श्रीहरिः

गीताका 'ध्यानयोग'

[श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायकी
विस्तृत व्याख्या]

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीमद्भगवद्-

गीताका ध्यानयोग

[श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

स्वामी रामसुखदास

नम्र निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता 'योगशास्त्र' के नामसे प्रसिद्ध है। 'योग' शब्दके अनेकानेक अर्थ किये जाते हैं। किन्तु गीताका योग 'युजिर् योगे' धातुसे बना है जिसका अर्थ होता है, स्वतःसिद्ध समस्वरूपमें स्थित होना। कल्याणकारी साधनोंमेंसे ध्यानयोग भी एक साधन है, जिसका वर्णन छठे अध्यायमें हुआ है।

साधक 'ध्यानयोग'को भलीभाँति हृदयङ्गम कर सकें। इसे ध्यानमें रखते हुए हमारे परम श्रद्धेय एवं साधक जगत्के सुपरिचित स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजने गीताके छठे अध्याय (ध्यानयोग) की बड़ी सुन्दर, सरल तथा बोधगम्य भाषामें विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि प्रस्तुत पुस्तकका अध्ययन, मनन एवं चिन्तन कर भगवत्प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त करें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

छठा अध्याय

श्लोक-संख्या | पृष्ठ-संख्या

सूक्ष्म विषय

श्लोक-संख्या पृष्ठ-संख्या

सूक्ष्म विषय

सूक्ष्म विषय

श्रीपरमात्मने नमः

अथ षष्ठोऽध्याय

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
योगी युञ्जीतसततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥
यदा विनियत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

प्राक्कथन

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति ॥

'योगीलोग ध्यानद्वारा वशीभूत मनसे किसी निर्गुण और निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो देखते रहें, पर हमारे लिये तो यमुनाजीके तटपर जो कोई नील तेज दौड़ रहा है, वही सदाके लिये नेत्रोंको चमत्कृत करनेवाला बना रहे ।'

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रत्येक अध्यायमें भगवान्‌ने बहुत विलक्षण-विलक्षण बातें कही हैं । उनमें इस छठे अध्यायमें ध्यानयोगका वर्णन करना बड़े आश्चर्यकी बात मालूम देती है । कारण कि अर्जुनके सामने युद्धका प्रसङ्ग था और ध्यान एकान्तमें तथा अकेलेमें किया जाता है । युद्धके प्रसङ्गमें भी ध्यानका वर्णन करनेमें खास कारण यही है कि गीतामें अर्जुनके प्रश्न युद्धके विषयमें नहीं है, प्रत्युत कल्याणके विषयमें है और भगवान्‌के द्वारा गीता कहनेका उद्देश्य भी युद्ध करानेका बिल्कुल नहीं है । हाँ, युद्धको लेकर अर्जुनमें कुटुम्बियोंका ममताजनित छिपा हुआ मोह जरूर जाग्रत् हुआ । युद्धमें ये कुटुम्बी मारे जायँगे—इस कारणसे वे युद्ध नहीं करना चाहते थे । वे यही मान रहे थे कि युद्धमें इन कुटुम्बियोंको मारने-से मेरेको पाप लगेगा और यह शरीर पाप करनेके लिये नहीं मिला

है। यह शरीर तो केवल अपना कल्याण करनेके लिये ही मिला है। उस कल्याणकी प्राप्ति इन कुटुम्बियोंको मारनेसे नहीं होगी—'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' (१। ३१)। इस वास्ते अर्जुन युद्धसे निवृत्त होकर भगवान्‌के शरण होते हैं और पूछते हैं कि मेरा कल्याण कैसे हो?—'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (२। ७)। फिर आगे चलकर कहा कि आप कई तरहकी बातें कर रहे हैं, उन बातोंसे मेरी बुद्धि मोहित हो रही है। अतः जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो, वह एक बात कहिये—'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' (३। २)। फिर कहा कि आपने जो कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दो मार्ग कहे हैं, इनमेंसे भी जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो, वह बात बताइये—'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' (५। १)। अर्जुनकी इन बातोंसे यही मालूम होता है कि अर्जुन अपना निश्चित कल्याण चाहते हैं। इस वास्ते कल्याणकारक जितने साधन हैं, उन सम्पूर्ण साधनोंका गीता-में संक्षेपसे विशद वर्णन मिलता है। उन साधनोंको लेकर ही साधक-जगत्‌में गीताका विशेष आदर है। कारण कि साधक चाहे किसी मतका हो, किसी सम्प्रदायका हो, किसी सिद्धान्तको माननेवाला हो, पर अपना कल्याण तो सबको अभीष्ट है। उन कल्याणकारी साधनोंमेंसे ध्यानयोग भी एक साधन है, जिसका वर्णन यहाँ छठे अध्यायमें हुआ है।

गीतामें 'योग' शब्द बहुत बार आया है। इसके अठारह अध्यायोंका नाम 'योग' है। इस वास्ते इसका नाम 'योगशास्त्र' है। योग

शब्दके बड़े विचित्र-विचित्र अर्थ होते हैं। शास्त्रोंकी दृष्टिसे योगके मुख्य दो अर्थ हैं—(१) समता—'समत्वं योग उच्यते' (गीता २ । ४८) और (२) चित्तवृत्तियोंका निरोध—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (पातञ्जलयोगदर्शन १ । २)। कारण कि 'योग' शब्द जिस धातुसे बनता है, वह धातु दो तरहकी है—'युजिर् योगे' और 'युज् समाधौ' । गीताका योग 'युजिर् योगे' धातुसे और पातञ्जलयोगदर्शनका योग 'युज् समाधौ' धातुसे बना है। पातञ्जलयोगदर्शन चित्तवृत्तियोंके निरोधको योग कहता है, जिसके होनेपर द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है और जिसके न होने-पर द्रष्टा वृत्तिरूप हो जाता है। इस वास्ते चित्तवृत्तियोंका निरोध भी एक साधन है। परन्तु गीता वृत्तियोंके निरोधको योग नहीं कहती; प्रत्युत वृत्तियोंसे सर्वथा वियोगको और स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्थितिको योग कहती है। उस समतामें स्थिति होनेपर फिर कभी उसमें वियोग नहीं होता, कभी वृत्तिरूपता नहीं होती, कभी व्युत्थान नहीं होता। तात्पर्य है कि वृत्तियोंका निरोध होनेपर 'निर्विकल्प अवस्था' होती है और समतामें स्थिति होनेपर 'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प बोध-अवस्थातीत है और अवस्थाका प्रकाशक है।

परमात्माका साक्षात् अंश यह स्वयं तो तत्त्वतः सत्-रूप ही है। इसका असत् पदार्थोंमें जो राग, खिंचाव है, यही जन्म-मरणका खास कारण है—'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गीता १३ । २१)। इस जन्म-मरणके कारणको मिटानेके लिये

भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। ये सभी साधन कल्याण करनेवाले हैं।

मनुष्योंमें कर्म करनेका एक वेग रहता है, जिसको कर्मयोगकी विधिसे कर्म करके ही मिटाया जा सकता है, अन्यथा वह शान्त नहीं होता। कारण कि प्रायः यह देखा गया है कि जो साधक सम्पूर्ण क्रियाओंसे उपरत होकर एकान्तमें रहकर जप-ध्यान आदि साधन करते हैं, ऐसे एकान्तप्रिय अच्छे-अच्छे साधकोंमें भी लोगोंका उद्धार करनेकी प्रवृत्ति बड़े जोरसे पैदा हो जाती है और वे एकान्तमें रहकर साधन करना छोड़कर लोगोंके उद्धारकी क्रियाओंमें लग जाते हैं।

सकामभावसे अर्थात् अपने लिये कर्म करनेसे कर्म करनेका वेग बढ़ता है। यह वेग तभी शान्त होता है, जब साधक अपने लिये कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई कर्म नहीं करता, प्रत्युत सम्पूर्ण कर्म केवल लोकहितार्थ ही करता है। इस तरह केवल निष्काम-भावसे दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्म करनेका वेग शान्त हो जाता है और समताकी प्राप्ति हो जाती है। समताकी प्राप्ति होनेपर समरूप परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। इस समताकी प्राप्तिके लिये ही भगवान्‌ने इस छठे अध्यायका विषय आरम्भ किया है।

छठे अध्यायमें पहले भगवान्‌ने नवें श्लोकतक कर्मयोगका विषय कहा अर्थात् कर्मयोगसे समताकी प्राप्ति बतायी। जो समता कर्मयोगसे प्राप्त होती है, वही समता ध्यानयोगसे भी प्राप्त होती

है—यह बतानेके लिये भगवान्‌ने इस अध्यायके दसवें श्लोकसे ध्यान-योगका विषय आरम्भ किया। उसमें पहले ध्यानयोगके आसन आदि-का वर्णन करके सगुण-साकारके ध्यानका फलसहित वर्णन किया (६। १०—१५)। फिर सब प्रकारके ध्यानयोगियोंके लिये उपयोगी नियमोंका वर्णन करके अपने स्वरूपके ध्यानका फलसहित वर्णन किया(६। १६—२३)। उसके बाद अचिन्त्यका अर्थात् निर्गुण-निराकारके ध्यानका फलसहित वर्णन करके सभी ध्यानयोगियोंकी अन्तिम स्थितिका अनुभव बताया (६। २४—३२)। इन तीनों ध्यानोंमेंसे किसी भी एक ध्यानका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करनेसे कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता।

उपर्युक्त ध्यानयोगमें अर्जुनने मनकी चञ्चलताको बाधक माना और उसको रोकना वायुको रोकनेकी तरह असम्भव बताया। इसपर भगवान्‌ने मनके निग्रहके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बताये। इन दोनोंमें भी ध्यानयोगके लिये 'अभ्यास' मुख्य है (गीता ६। २६)। ज्ञानयोगके लिये 'वैराग्य' विशेष उपयोगी होता है। यद्यपि वैराग्य ध्यानयोगमें भी सहायक है, तथापि ध्यान-योगमें रागके रहते हुए भी मनको रोका जा सकता है। अगर यह कहा जाय कि रागके रहते हुए मन नहीं रुकता, तो एक आपत्ति आती है। पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्याससे ही हो सकता है। अगर उसमें वैराग्य ही कारण हो, तो सिद्धियोंकी प्राप्ति कैसे होगी? (उनका वर्णन पातञ्जलयोग-दर्शनके विभूतिपादमें किया गया है।) तात्पर्य है कि अगर

भीतर राग रहते हुए चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है, तो उसमें रागके कारणसे सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। कारण कि संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) किसी-न-किसी सिद्धिके लिये किया जाता है और जहाँ सिद्धिका उद्देश्य है, वहाँ रागका अभाव कैसे हो सकता है? परन्तु जहाँ केवल परमात्मतत्त्वका उद्देश्य होता है, वहाँ ये धारणा, ध्यान और समाधि भी सहायक हो जाते हैं।

एकाग्रताके बाद जब चित्तकी निरुद्ध-अवस्था आती है, तब समाधि होती है। समाधि कारण शरीरमें होती है और समाधिसे भी व्युत्थान होता है। जबतक समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ हैं, तबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर तो सहजावस्था होती है, जिससे व्युत्थान होता ही नहीं। इस वास्ते चित्तकी चञ्चलताको रोकनेके विषयमें भगवान् ज्यादा नहीं बोले; क्योंकि चित्तको निरुद्ध करना भगवान्‌का ध्येय नहीं है अर्थात् भगवान्‌ने जिस ध्यानका वर्णन किया है, वह ध्यान साधन है, ध्येय नहीं। भगवान्‌के मतमें संसारमें जो राग है, यही खास बाधा है और इसको दूर करना ही भगवान्‌का उद्देश्य है। ध्यान तो एक शक्ति है, एक पूँजी है, जिसका लौकिक-पारलौकिक सिद्धियों आदिमें सम्यक् उपयोग किया जा सकता है।

स्वयं केवल परमात्मतत्त्वको चाहता है, तो उसको मनको एकाग्र करनेकी इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता प्रकृतिके कार्य मनसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी, मनसे अपनापन

हटानेकी है। इस वास्ते जब समाधिसे भी उपरति हो जाती है, तब सर्वातीत तत्त्वकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य है कि जबतक समाधि-अवस्थाकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक उसमें एक आकर्षण रहता है। जब वह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब उसमें आकर्षण न रहकर सच्चे जिज्ञासुको उससे उपरति हो जाती है। उपरति होनेसे अर्थात् अवस्थामात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे अवस्थातीत चिन्मय-तत्त्वकी अनुभूति स्वतः हो जाती है। इस प्रकार प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होकर चिन्मय तत्त्वमें स्थित हो जानेका नाम 'योग' है। चिन्मय-तत्त्वके साथ स्वयंका नित्ययोग अर्थात् नित्य-सम्बन्ध है।

जब भगवान्‌ने कहा कि जिसका मन वशमें नहीं है, ऐसे पुरुषके द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है, तो इसपर अर्जुनने पूछा कि जिसका मन पूरी तरह वशमें नहीं है, वह अन्तसमयमें योगसे चलितमना हो जाय तो उसकी क्या गति होती है? भगवान्‌ने बताया कि ऐसे योगभ्रष्ट होनेवाले पुरुष दो प्रकारके होते हैं—(१) वासनाओंको रोककर चलनेवाले साधक—ये योगभ्रष्ट होने-पर स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं और फिर लौटकर यहाँ श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं और (२) वैराग्यवान् त्यागी साधक—ये योगभ्रष्ट होनेपर सीधे तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त योगियोंके कुलमें जन्म लेते हैं। [जिनकी वासना सर्वथा मिट गयी है, वे योगी होते हैं, योगभ्रष्ट नहीं होते।]

एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि जो संसारसे सर्वथा विमुख होकर भगवान्‌के ही परायण हो गया है, जिसको अपने

बलका, उद्योगका, साधनका सहारा, विश्वास और अभिमान नहीं है, ऐसे भक्तको भगवान् योगभ्रष्ट नहीं होने देते; क्योंकि वह भगवान्-पर ही निर्भर होता है। जिसके अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व है तथा जिसको अपने पुरुषार्थका सहारा, विश्वास और अभिमान है, उसीके योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। कारण कि अन्तःकरणमें भोगोंका महत्त्व होनेपर परमात्माका ध्यान करते हुए भी मन संसारमें चला जाता है। इस प्रकार अगर प्राण छूटते समय मन संसारमें चला जाय, तो वह योगभ्रष्ट हो जाता है। अगर अपने बलका सहारा, विश्वास और अभिमान न हो, तो मन संसारमें जाने-पर भी वह योगभ्रष्ट नहीं होता। कारण कि ऐसी अवस्था आनेपर (मन संसारमें जानेपर) वह भगवान्‌को पुकारता है। अतः ऐसे भगवान्‌पर निर्भर भक्तका चिन्तन भगवान् स्वयं करते हैं, जिससे वह योगभ्रष्ट नहीं होता; प्रत्युत भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।

इस छठे अध्यायपर विचार करें तो मनुष्यशरीरकी सार्थकता-सफलता इसीमें है कि वह संसारसे सर्वथा विमुख होकर केवल भगवान्‌के परायण हो जाय। भगवत्परायण होनेपर वह कोई भी साधन करे, उसका कल्याण निश्चित है।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास
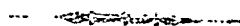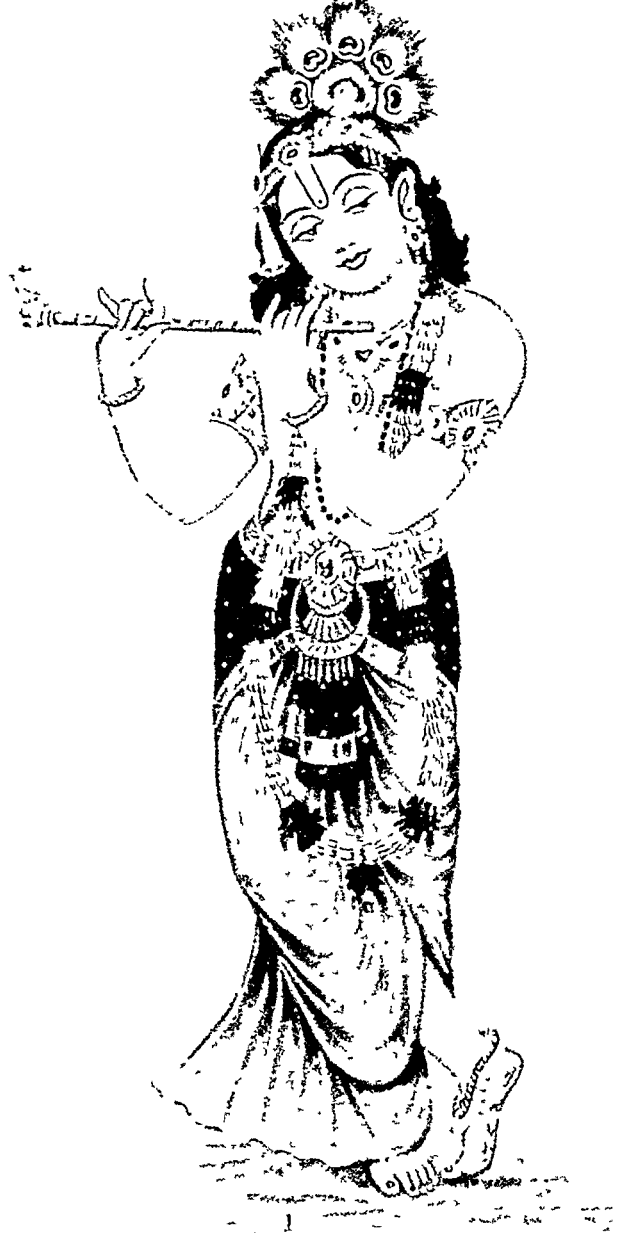
श्रीबाँकेविहारी

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीताका ध्यानयोग

(श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या)

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

सम्बन्ध—

पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने यह बात पूछी थी कि सांख्ययोग और कर्मयोग—इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है ? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि ये दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं; परन्तु कर्मसंन्यास और कर्मयोग—इन दोनोंमें कर्मयोग श्रेष्ठ है— '**कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (५ । २) ।

अब दोनों कल्याण करनेवाले कैसे हैं—इसका वर्णन भगवान्‌ने पाँचवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकतक किया । फिर

सांख्ययोग तथा कर्मयोगके लिये उपयोगी और स्वतन्त्रतासे कल्याण करनेवाले ध्यानयोगका संक्षेपसे दो श्लोकोंमें वर्णन किया तथा अन्तमें अपनी ही तरफसे भक्तिकी निष्ठा बताकर पाँचवें अध्यायके विषयका उपसंहार किया।

अब 'कर्मयोग श्रेष्ठ है'— इसी बातको लेकर भगवान् छठे अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १ ॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—कर्मफलका आश्रय न लेकर जो कर्तव्य-कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है। केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं होता तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं होता।

व्याख्या—

'अनाश्रितः कर्मफलम्'—इन पदोंका आशय यह मालूम देता है कि मनुष्यको उत्पत्ति-विनाशशील किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया आदिका आश्रय नहीं रखना चाहिये। कारण कि यह जीव स्वयं परमात्माका अंश होनेसे नित्य-निरन्तर रहनेवाला है और यह जिन वस्तु, व्यक्ति आदिका आश्रय लेता है, वे उत्पत्ति-विनाशशील तथा प्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाले हैं। वे तो

परिवर्तनशील होनेके कारण नष्ट हो जाते हैं और यह (जीव) रीता-का-रीता रह जाता है। केवल रीता ही नहीं रहता, प्रत्युत उनके रागको पकड़े रहता है। जबतक यह उनके रागको पकड़े रहता है, तबतक इसका कल्याण नहीं होता अर्थात् वह राग उसके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बन जाता है (गीता १३ । २१)। अगर यह उस रागका त्याग कर दे तो यह स्वतः मुक्त हो जायगा। वास्तवमें यह स्वतः मुक्त है ही, केवल रागके कारण उस मुक्तिका अनुभव नहीं होता। इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि यह मनुष्य कर्मफलका आश्रय न रखकर कर्तव्य-कर्म करे।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों शरीर 'कर्मफल' हैं। इन तीनोंमेंसे किसीका भी आश्रय न लेकर इनको कर्तव्य-कर्म करनेमें लगाना चाहिये। जैसे, स्थूलशरीरसे क्रियाओं और पदार्थोंको संसारका ही मानकर उनका उपयोग संसारकी सेवा-(हित-)में करे, सूक्ष्मशरीरसे दूसरोंका हित कैसे हो, सब सुखी कैसे हों, सबका उद्धार कैसे हो—ऐसा चिन्तन करे, और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता-(समाधि-)का भी फल संसारके हितके लिये अर्पण करे। कारण कि ये तीनों शरीर अपने (व्यक्तिगत) नहीं हैं और अपने लिये भी नहीं हैं, प्रत्युत संसारके और संसारकी सेवाके लिये ही हैं। इन तीनोंकी संसारके साथ अभिन्नता और अपने स्वरूपके साथ सदा भिन्नता है। इस तरह इन तीनोंका आश्रय न लेना ही 'कर्मफलका आश्रय न लेना' है और इन तीनोंसे केवल संसारके हितके लिये कर्म करना ही 'कर्तव्य कर्म करना' है।

आश्रय न लेनेका तात्पर्य हुआ कि साधनरूपसे तो शरीरादिको दूसरोंके हितके लिये काममें लेना है, पर स्वयं उनका आश्रय नहीं लेना है अर्थात् उनको अपना और अपने लिये नहीं मानना है। कारण कि मनुष्यजन्ममें शरीर आदिका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत शरीर आदिके द्वारा किये जानेवाले साधनका महत्त्व है। इस वास्ते संसारसे मिली हुई चीज संसारको दे दें, संसारकी सेवामें लगा दें तो हम 'संन्यासी' हो गये और मिली हुई चीजमें अपनापन छोड़ दें तो हम 'त्यागी' हो गये !

कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करनेसे क्या होगा ? अपने लिये कर्म न करनेसे नयी आसक्ति तो बनेगी नहीं और पुरानी आसक्ति केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे मिट जायगी तथा कर्म करनेका वेग भी मिट जायगा। इस प्रकार आसक्तिके सर्वथा मिटनेसे मुक्ति स्वतःसिद्ध है। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंको पकड़नेका नाम बन्धन है और उनसे छूटनेका नाम मुक्ति है। उन उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे छूटनेका उपाय है—उनका आश्रय न लेना अर्थात् उनके साथ ममता न करना और अपने जीवनको उनके आश्रित न मानना।

'कार्यं कर्म करोति यः'—कर्तव्यमात्रका नाम कार्य है। कार्य और कर्तव्य—ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। कर्तव्य-कर्म उसे कहते हैं, जिसको हम सुखपूर्वक कर सकते हैं, जिसको जरूर करना चाहिये और जिसका त्याग कभी नहीं करना चाहिये।

'कार्यं कर्म' अर्थात् कर्तव्य-कर्म असम्भव तो होता ही नहीं, कठिन भी नहीं होता। जिसको करना नहीं चाहिये, वह कर्तव्य-कर्म होता ही नहीं। वह तो अकर्तव्य (अकार्य) होता है। वह अकर्तव्य भी दो तरहका होता है—(१) जिसको हम कर नहीं सकते अर्थात् जो हमारे सामर्थ्यके बाहरका है, और (२) जिसको करना नहीं चाहिये अर्थात् जो शास्त्र और लोकमर्यादाके विरुद्ध है। ऐसे अकर्तव्यको कभी भी करना नहीं चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मफलका आश्रय न लेकर शास्त्रविहित और लोकमर्यादाके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मोंको निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये ही करना चाहिये।

कर्म दो प्रकारसे किये जाते हैं—कर्मफलकी प्राप्तिके लिये, और कर्म तथा उसके फलकी आसक्ति मिटानेके लिये। यहाँ कर्म और उसके फलकी आसक्ति मिटानेके लिये ही प्रेरणा की गयी है।

'स संन्यासी च योगी च'—इस प्रकार कर्म करनेवाला ही सन्यासी और योगी है। वह कर्तव्य कर्म करते हुए निर्लिप्त रहता है, इस वास्ते वह 'सन्यासी, है और उन कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए वह सुखी दुःखी नहीं होता अर्थात् कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है, इस वास्ते वह 'योगी' है।

तात्पर्य यह हुआ, कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेसे उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्वका नाश हो जाता है अर्थात् उसका न तो कर्मके साथ सम्बन्ध रहता है और न फलके साथ ही सम्बन्ध

रहता है, इस वास्ते वह 'संन्यासी' है। वह कर्म करनेमें और कर्मफलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहता है, इस वास्ते वह 'योगी' है।

यहाँ पहले 'संन्यासी' पद कहनेमें यह भाव मालूम देता है कि अर्जुन स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको श्रेष्ठ मानते थे। इसीसे अर्जुनने (२।५ में) कहा था कि युद्ध करनेकी अपेक्षा भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करना श्रेष्ठ है। इस वास्ते यहाँ भगवान् पहले 'संन्यासी' पद देकर अर्जुनसे कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तू जिसको संन्यास मानता है, वह वास्तवमें संन्यास नहीं है, प्रत्युत जो कर्मफलका आश्रय छोड़कर अपने कर्तव्यरूप कर्मको केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-बुद्धिसे करता है, वही वास्तवमें सच्चा संन्यासी है।

'न निरग्निः'—केवल अग्निरहित होनेसे संन्यासी नहीं होता अर्थात् जिसने ऊपरसे तो यज्ञ, हवन आदिका त्याग कर दिया है, पदार्थोंका त्याग कर दिया है, पर भीतरमें क्रियाओं और पदार्थोंका राग है, महत्त्व है, प्रियता है, वह कभी सच्चा संन्यासी नहीं हो सकता।

'न अक्रियः'—लोगोंने समझ रखा है कि जो कुछ भी क्रिया न करे, निष्क्रिय होकर समाधिमें बैठा रहे, वह योगी होता है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि जबतक वह उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके आश्रयका त्याग नहीं करता है और मनसे उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़े रखता है, तबतक वह कितना ही अक्रिय हो जाय, चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध कर ले, पर वह योगी

नहीं हो सकता । हाँ, चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध होनेसे उसको तरह-तरहकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, पर कल्याण नहीं हो सकता । तात्पर्य यह हुआ कि केवल बाहरसे अक्रिय होनेमात्रसे कोई योगी नहीं होता ।

विशेष बात

शरीर-संसारमें अहंता-ममता करना कर्मका फल नहीं है । यह अहंता-ममता तो मनुष्यकी मानी हुई है । इस वास्ते वह बदलती रहती है । जैसे मनुष्य कभी गृहस्थ होता है तो वह अपनेको मानता है कि 'मैं गृहस्थ हूँ' और वही जब साधु हो जाता है तो अपनेको मानता है कि 'मै साधु हूँ' अर्थात् उसकी 'मैं गृहस्थ हूँ' यह अहंता मिट जाती है । ऐसे ही 'यह वस्तु मेरी है' इस प्रकार मनुष्यकी उस वस्तुमें ममता रहती है और वही वस्तु जब दूसरेको दे देता है, तो उस वस्तुमें ममता नहीं रहती । इससे यह सिद्ध हुआ कि अहंता-ममता मानी हुई है, वास्तविक नहीं है । अगर यह वास्तविक होती, तो वह कभी मिटती नहीं —'नाभावो विद्यते सतः' और अगर मिटती है तो वह वास्तविक नहीं है—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २ । १६) ।

अब कोई कहे कि अहंता-ममता मिटती नहीं है, प्रत्युत बदलती है, तो यह कहना ठीक नहीं है । इस विषयपर गहरा विचार किया जाय तो अहंता-ममताका जो आधार है, आश्रय है वह तो साक्षात् परमात्माका अंश है । उसका कभी अभाव नहीं होता । उसकी सब जगह व्यापक परमात्माके साथ एकता है । उसमें अहंता-ममताकी

गन्ध भी नहीं है। अहंता-ममता तो प्राकृत पदार्थोंके साथ तादात्म्य करनेसे प्रतीत होती है। तादात्म्य करने और न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। कारण कि यह सबका अनुभव है कि 'मैं गृहस्थ हूँ' 'मैं साधु हूँ'—ऐसा माननेमें और 'वस्तु मेरी है', 'वस्तु मेरी नहीं है'—ऐसा माननेमें अर्थात् अहंता-ममताका सम्बन्ध जोड़नेमें और छोड़नेमें यह मनुष्य स्वतन्त्र और समर्थ है। इसमें वह पराधीन और असमर्थ नहीं है; क्योंकि शरीर आदिके साथ सम्बन्ध स्वयं चेतनने जोड़ा है, शरीर तथा संसारने नहीं। इस वास्ते जिसको जोड़ना आता है, उसको तोड़ना भी आता है।

सम्बन्ध जोड़नेकी अपेक्षा तोड़ना सुगम है। जैसे, मनुष्य बाल्यावस्थामें 'मैं बालक हूँ' और युवावस्थामें 'मैं जवान हूँ'—ऐसा मानता है। इसी तरह वह बाल्यावस्थामें 'खिलौने मेरे हैं-'—ऐसा मानता है और युवावस्थामें 'रुपये-पैसे मेरे हैं'—ऐसा मानता है। इस प्रकार मनुष्यको बाल्यावस्था आदिके साथ और खिलौने आदिके साथ खुद सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। परन्तु इनके साथ सम्बन्धको तोड़ना नहीं पड़ता, प्रत्युत सम्बन्ध स्वतः टूटता चला जाता है। तात्पर्य है कि बाल्यावस्था आदिकी अहंता शरीरके रहने अथवा न रहनेपर निर्भर नहीं है, प्रत्युत स्वयंकी मान्यतापर निर्भर है। ऐसे ही खिलौने आदिकी ममता वस्तुके रहने अथवा न रहनेपर निर्भर नहीं है, प्रत्युत मान्यतापर निर्भर है। इस वास्ते कर्मफल (शरीर, वस्तु आदि) के रहते हुए भी उसका आश्रय सुगमतापूर्वक छूट सकता है।

स्वयं नित्य है और शरीर-संसार अनित्य हैं। नित्यके साथ अनित्यका सम्बन्ध कभी टिक नहीं सकता, रह नहीं सकता। परन्तु जब स्वयं अहंता-ममताको पकड़ लेता है, तो अहंता-ममता भी नित्य दीखने लग जाती है। फिर उसको छोड़ना कठिन मालूम देता है, क्योंकि उसने नित्य-स्वरूपमें अनित्य अहंता-ममता ('मैं' और 'मेरा'-पन) का आरोप कर लिया। वास्तवमें देखा जाय तो शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माना हुआ है, है नहीं। कारण कि शरीर प्रकाश्य है और स्वयं (स्वरूप) प्रकाशक है। शरीर एकदेशीय है और स्वरूप सर्वदेशीय अथवा देशातीत है। शरीर जड़ है और स्वरूप चेतन है। शरीर ज्ञेय है और स्वरूप ज्ञाता है। स्वरूपका वह ज्ञातापन भी शरीरकी दृष्टिसे ही है। अगर शरीरकी दृष्टि हटा दी जाय, तो स्वरूप ज्ञातृत्वरहित चिन्मात्र है अर्थात् केवल चितिरूपसे रहता है। उस चितिमात्र स्वरूपमें 'मैं' और 'मेरा' पन नहीं है। उसमें अहंता-ममताका अत्यन्त अभाव है। वह चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप है, और ब्रह्ममें 'मैं' और 'मेरा'-पन कभी हुआ नहीं, है नहीं और हो सकता भी नहीं।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें यह कहा गया कि जो संन्यासी है, वही योगी है। पर इनका एकत्व किसमें है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

अर्थ—

हे अर्जुन ! लोग जिसको संन्यास कहते हैं, उसीको तुम योग समझो; क्योंकि संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी (सांख्ययोगी या कर्मयोगी) नहीं हो सकता।

व्याख्या—

'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव'—पाँचवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने बताया था कि संन्यास (सांख्ययोग) और योग (कर्मयोग)—ये दोनों ही स्वतन्त्रतासे कल्याण करनेवाले हैं (५। २), तथा दोनोंका फल भी एक ही है (५। ५) अर्थात् संन्यास और योग दो नहीं हुए, एक ही हुए। वही बात भगवान् यहाँ कहते हैं कि जैसे संन्यासी सर्वथा त्यागी होता है, ऐसे ही कर्मयोगी भी सर्वथा त्यागी होता है।

अठारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि 'फल और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके जो नियत कर्तव्य-कर्म केवल कर्तव्यमात्र समझकर किया जाता है, वह 'सात्त्विक त्याग' है, जिससे पदार्थों और क्रियाओंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और मनुष्य त्यागी अर्थात् योगी हो जाता है। इसी तरह संन्यासी भी कर्तृत्वाभिमानका त्यागी होता है। अतः दोनों ही त्यागी हैं। तात्पर्य है कि योगी और संन्यासीमें कोई भेद नहीं रहा। भेद न रहनेसे ही भगवान्‌ने पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा है कि जिसको संन्यास कहते हैं, उसीको तुम योग समझो; क्योंकि राग-द्वेषका त्याग करनेवाला योगी 'संन्यासी' ही है।

'न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन'—मनमें जो स्फुरणाएँ होती हैं अर्थात् तरह-तरहकी बातें याद आती हैं, उनमेंसे जिस स्फुरणा-(बात) के साथ मन चिपक जाता है, जिस स्फुरणा-के प्रति प्रियता-अप्रियता पैदा हो जाती है; वह 'संकल्प' हो जाता है। उस संकल्पका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी (सांख्ययोगी अथवा कर्मयोगी) नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है। कारण कि परमात्माके सम्बन्धका नाम 'योग' है और जिसकी भीतरसे ही पदार्थोंमें महत्त्व, सुन्दर तथा सुख-बुद्धि है, वह (भीतरसे पदार्थोंके साथ सम्बन्ध माननेसे) भोगी ही होगा, योगी हो ही नहीं सकता। वह योगी तो तब होता है, जब उसकी असत् पदार्थोंमें महत्त्व, सुन्दर तथा सुख-बुद्धि नहीं रहती और तभी वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी होता है तथा भगवान्‌के साथ उसका सम्बन्ध होता है।

यहाँ **'कश्चन'** पदसे यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि संकल्पका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी अर्थात् कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, हठयोगी, लययोगी आदि नहीं होता। कारण कि उसका सम्बन्ध उत्पन्न और नष्ट होनेवाले जड़ पदार्थों-के साथ है, इस वास्ते वह योगी कैसे होगा? वह तो भोगी ही होगा। ऐसे भोगी केवल मनुष्य ही नहीं हैं, प्रत्युत पशु-पक्षी आदि भी भोगी हैं; क्योंकि उन्होंने भी संकल्पोंका त्याग नहीं किया है।

तात्पर्य यह निकला कि जबतक असत् पदार्थोंके साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध रहेगा, तबतक मनुष्य कोई-सा भी योगी

नहीं हो सकता अर्थात् असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रखते हुए वह कितना ही अभ्यास कर ले, समाधि लगा ले, गिरि-कन्दराओंमें चला जाय, तो भी गीताके सिद्धान्तके अनुसार वह योगी नहीं हो सकता।

ऐसे तो संन्यास और योगकी साधना अलग-अलग है, पर संकल्पोंके त्यागमें दोनों साधन एक हैं।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें जिस योगकी प्रशंसा की गयी है, उस योगकी प्राप्तिका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

अर्थ—

जो योग-(समता-) में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण है और उसी योगारूढ़ पुरुषका शम (शान्ति) परमात्मप्राप्तिमें कारण है।

व्याख्या—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'—जो योग-(समता-) में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये (योगारूढ़ होनेमें) निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करना कारण है। तात्पर्य है कि दुःखोंके संयोगका वियोग करनेमें, करनेका वेग मिटानेमें प्राप्त कर्तव्य-कर्म करना कारण है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति जन्मा

है, पला है और जीवित है तो उसका जीवन दूसरोंकी सहायताके बिना चल ही नहीं सकता। उसके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंतक कोई ऐसी चीज नहीं है, जो प्रकृतिकी न हो। इस वास्ते जबतक वह इन प्राकृत चीजोंको संसारकी सेवामें नहीं लगाता; तबतक वह योगारूढ़ नहीं हो सकता अर्थात् समतामें स्थित नहीं हो सकता; क्योंकि प्राकृत वस्तुमात्रकी संसारके साथ एकता है, अपने साथ एकता है ही नहीं।

प्राकृत पदार्थोंमें जो अपनापन दीखता है, उसका तात्पर्य है कि उनको दूसरोंकी सेवामें लगानेका दायित्व हमारेपर है। इस वास्ते उन सबको दूसरोंकी सेवामें लगानेका उद्देश्य होनेसे सम्पूर्ण क्रियाओंका प्रवाह संसारकी तरफ हो जायगा और वह स्वयं योगारूढ़ हो जायगा। यही बात भगवान्‌ने दूसरी जगह अन्वय-व्यतिरेक रीतिसे कही है कि यज्ञके लिये अर्थात् दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवालोंके सम्पूर्ण कर्म लीन हो जाते हैं अर्थात् किञ्चिन्मात्र भी बन्धनकारक नहीं होते (गीता ४। २३) और यज्ञसे अन्यत्र अर्थात् अपने लिये किये गये कर्म बन्धनकारक होते हैं (गीता ३। ९)।

योगारूढ़ होनेमें कर्म कारण क्यों हैं ? क्योंकि फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हमारी समता है या नहीं, उसका हमारेपर क्या असर पड़ता है—इसका पता तभी लगेगा, जब हम कर्म करेंगे। समताकी पहचान कर्म करनेसे ही होगी। तात्पर्य है कि कर्म करते हुए अगर हमारेमें समता रही, राग-द्वेष नहीं हुए, तब तो

ठीक है; क्योंकि वह कर्म 'योग'में कारण हो गया। परन्तु अगर हमारेमें समता नहीं रही, राग-द्वेष हो गये, तो हमारा जड़ता-के साथ सम्बन्ध होनेसे वह कर्म 'योग'में कारण नहीं बना।

'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'—असत्‌के साथ सम्बन्ध रखनेसे ही अशान्ति पैदा होती है। इसका कारण यह है कि असत् पदार्थों-(शरीरादि-)-के साथ स्वयंका सम्बन्ध एक क्षण भी रह नहीं सकता और रहता भी नहीं; क्योंकि स्वयं सदा रहनेवाला है और शरीरादि मात्र पदार्थ प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। उन प्रतिक्षण अभावमें जानेवालोंके साथ यह स्वयं अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और उनके साथ अपना सम्बन्ध रखना चाहता है। परन्तु उनके साथ सम्बन्ध रहता नहीं तो उनके चले जानेके भयसे और उनके चले जानेसे अशान्ति पैदा हो जाती है। जब यह शरीरादि असत् पदार्थोंको संसारकी सेवामें लगाकर उनसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है और योगारूढ़ हो जाता है, तो असत्‌के त्यागसे उसको स्वतः एक शान्ति मिलती है। अगर साधक उस शान्तिमें भी सुख लेने लग जायगा, तो वह बँध जायगा। अगर उस शान्तिमें राग नहीं करेगा, उससे सुख नहीं लेगा, तो उस शान्तिसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि योगारूढ़की जो शान्ति है, वह परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें कारण है।

सम्बन्ध—

योगारूढ कौन होता है? इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

श्लोक—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—

जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।

व्याख्या—

'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु'—साधक इन्द्रियोंके अर्थोंमें अर्थात् प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंमें; अनुकूल पदार्थ, परिस्थिति, घटना, व्यक्ति आदिमें और शरीरके आराम, मान, बड़ाई आदिमें आसक्ति न करे; इनका भोगबुद्धिसे भोग न करे, इनमें राजी न हो, प्रत्युत यह अनुभव करे कि ये सब विषय, पदार्थ आदि आये हैं और प्रतिक्षण चले जा रहे हैं। ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, फिर इनमें क्या राजी हों—ऐसा अनुभव करके इनसे निर्लेप रहें।

इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त न होनेका साधन है—इच्छापूर्तिका सुख न लेना। जैसे, कोई मनचाही बात हो जाय; मनचाही वस्तु व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि मिल जाय और जिसको नहीं चाहता,

वह न हो, तो मनुष्य उसमें राजी (प्रसन्न) हो जाता है तथा उससे सुख लेता है। सुख लेनेपर इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्ति बढ़ती है। इस वास्ते साधकको चाहिये कि अनुकूल वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिके मिलनेकी इच्छा न करे और बिना इच्छाके अनुकूल वस्तु आदि मिल भी जाय तो उसमें राजी न हो। ऐसा होनेसे इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्ति नहीं होगी।

दूसरी बात, मनुष्यके पास अनुकूल चीजें न होनेसे यह उन चीजोंके अभावका अनुभव करता है और उनके मिलनेपर यह उनके अधीन हो जाता है। जिस समय इसको अभावका अनुभव होता था, उस समय भी परतन्त्रता थी और अब उन चीजोंके मिलनेपर भी 'कहीं इनका वियोग न हो जाय'—इस तरहकी परतन्त्रता होती है। अतः वस्तुके न मिलने और मिलनेमें फर्क इतना ही रहा कि वस्तुके न मिलनेसे तो वस्तुकी परतन्त्रताका अनुभव होता था, पर वस्तुके मिलनेपर परतन्त्रताका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत उसमें मनुष्यको स्वतन्त्रता दीखती है—यह उसको धोखा होता है। जैसे कोई किसीके साथ विश्वासघात करता है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थितिमें राजी होनेसे प्राणीके साथ विश्वासघात होता है। कारण कि यह प्राणी अनुकूल परिस्थितिके अधीन हो जाता है, उसको भोगते-भोगते इसका स्वभाव बिगड़ जाता है और बार-बार सुख भोगनेकी कामना होने लगती है। यह सुखभोगकी कामना ही इसके जन्म-मरणका कारण बन जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि अनुकूलताकी इच्छा करना, आशा करना और अनुकूल विषय

आदिमें राजी होना—यह सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है। इससे कोई-सा भी अनर्थ कोई-सा भी पाप बाकी नहीं रहता। इस वास्ते अगर इसका त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य योगारूढ हो जाता है।

तीसरी बात, हमारे पास निर्वाहमात्रके सिवाय जितनी अनुकूल भोग्य वस्तुएँ हैं, वे अपनी नहीं हैं। वे किसकी हैं? इसका हमें पता नहीं है, परन्तु जब कोई अभावग्रस्त प्राणी मिल जाय, तो उस सामग्रीको उसीकी समझकर उसके अर्पण कर देना चाहिये [यह आपकी ही है—ऐसा उससे कहना नहीं है], और उसे देकर ऐसा मानना चाहिये कि निर्वाहसे अतिरिक्त जो वस्तुएँ मेरे पास पड़ी थीं, उस ऋणसे मैं मुक्त हो गया हूँ। तात्पर्य है कि निर्वाहसे अतिरिक्त वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न माननेसे मनुष्यकी भोगोंमें आसक्ति नहीं होती।

'न कर्मस्वनुषज्जते'—जैसे इन्द्रियोंके अर्थोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, ऐसे ही कर्मोंमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये अर्थात् क्रियमाण कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्तिमें और उन कर्मोंकी तात्कालिक फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। कारण कि कर्म करनेमें भी एक राग होता है, कर्म ठीक तरहसे हो जाता है तो उससे एक सुख मिलता है, और कर्म ठीक तरहसे नहीं होता तो मनमें एक दुःख होता है। यह सुख-दुःखका होना कर्मकी आसक्ति है। इस वास्ते साधक कर्म तो विधिपूर्वक और तत्परतासे करे, पर उसमें आसक्त न होकर सावधानीपूर्वक निर्लेप रहे कि ये तो आने-जानेवाले हैं और हम नित्य-निरन्तर रहनेवाले हैं; अतः इनके होने-न होनेमें अपनेमें [illegible] है

कर्मोंमें आसक्ति होनेकी पहचान क्या है ? अगर क्रियमाण (वर्तमानमें किये जानेवाले) कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्तिमें और उनसे मिलनेवाले तात्कालिक फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें अर्थात् सिद्धि-असिद्धिमें मनुष्य निर्विकार नहीं रहता, प्रत्युत उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि विकार होते हैं, तो समझना चाहिये कि उसकी कर्मोंमें और उनके तात्कालिक फलमें आसक्ति रह गयी है ।

इन्द्रियोंके अर्थोंमें और कर्मोंमें आसक्त न होनेका तात्पर्य यह हुआ कि स्वयं (स्वरूप) चिन्मय परमात्माका अंश होनेसे नित्य अपरिवर्तनशील है और पदार्थ तथा क्रियाएँ प्रकृतिका कार्य होनेसे नित्य-निरन्तर बदलते रहते हैं। परन्तु जब स्वयं उन परिवर्तनशील पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्त हो जाता है, तो यह उनके अधीन हो जाता है और बार-बार जन्म-मरणरूप महान् दुःखोंका अनुभव करता रहता है। उन पदार्थों और क्रियाओंसे अर्थात् प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त होनेके लिये भगवान्‌ने दो विभाग बताये हैं कि न तो इन्द्रियोंके अर्थोंमें अर्थात् पदार्थोंमें आसक्ति करे और न कर्मोंमें (क्रियाओंमें) आसक्ति करे। ऐसा करनेपर मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है ।

यहाँ एक बात समझनेकी है कि क्रियाओंमें प्रियता प्रायः फलको लेकर ही होती है, और फल होता है—इन्द्रियोंके भोग । अतः इन्द्रियोंके भोगोंकी आसक्ति सर्वथा मिट जाय तो क्रियाओंकी आसक्ति भी मिट जाती है, फिर भी भगवान्‌ने क्रियाओंकी आसक्ति मिटानेकी बात अलग क्यों कही ? इसका कारण यह है कि क्रियाओंमें भी एक स्वतन्त्र आसक्ति होती है। फलेच्छा न होनेपर

भी मनुष्यमें एक करनेका वेग होता है। यह वेग ही क्रियाओंकी आसक्ति है, जिसके कारण मनुष्यसे कुछ किये बिना रहा नहीं जाता, वह कुछ-न-कुछ काम करता ही रहता है। यह आसक्ति मिटती है केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे अथवा भगवान्‌के लिये कर्म करनेसे। इस वास्ते भगवान्‌ने बारहवें अध्यायमें पहले अभ्यासयोग बताया। परन्तु भीतरमें करनेका वेग होनेसे अभ्यासमें मन नहीं लगता, इस वास्ते करनेका वेग मिटानेके लिये दसवें श्लोकमें बताया कि साधक मेरे लिये ही कर्म करे*। तात्पर्य है कि पारमार्थिक अभ्यास आदि करनेमें जिसका मन नहीं लगता और भीतरमें करनेका वेग (आसक्ति) पड़ा है, तो वह भक्तियोगका साधक केवल भगवान्‌के लिये ही कर्म करे। इससे उसकी आसक्ति मिट जायगी। ऐसे ही कर्मयोगका साधक केवल संसारके हितके लिये ही कर्म करे, तो उसका करनेका वेग (आसक्ति) मिट जायगा।

जैसे कर्म करनेकी आसक्ति होती है, ऐसे ही कर्म न करनेकी भी आसक्ति होती है। कर्म न करनेकी आसक्ति भी नहीं होनी चाहिये, क्योंकि कर्म न करनेकी आसक्ति आलस्य और प्रमाद पैदा करती है, जो कि तामसी प्रवृत्ति है और कर्म करनेकी आसक्ति व्यर्थ चेष्टाओंमें लगाती है, जो कि राजसी वृत्ति है।

---

* अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गीता १२। १०)

वह योगारूढ़ कितने दिनोंमें, कितने महीनोंमें अथवा कितने वर्षोंमें होगा ? इसके लिये भगवान् 'यदा' और 'तदा' पद देकर बताते हैं कि जिस कालमें मनुष्य इन्द्रियोंके अर्थोंमें और क्रियाओंमें सर्वथा आसक्ति-रहित हो जाता है, तभी वह योगारूढ़ हो जाता है। जैसे, किसीने यह निश्चय कर लिया कि 'मैं आजसे कभी इच्छापूर्तिका सुख नहीं लूँगा। अगर वह अपने इस निश्चय (प्रतिज्ञा) पर दृढ़ रहे, तो वह आज ही योगारूढ़ हो जायगा। इस बातको बतानेके लिये ही भगवान्ने 'यदा' और 'तदा' पदोंके साथ 'हि' पद दिया है।

पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्ति करने और न करनेमें भगवान्ने मनुष्यमात्रको यह स्वतन्त्रता दी है कि तुम साक्षात् मेरे अंश हो और ये पदार्थ और क्रियाएँ प्रकृतिजन्य हैं। इनमें पदार्थ भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तथा क्रियाओंका भी आरम्भ और अन्त हो जाता है। अतः ये नित्य रहनेवाले नहीं हैं और तुम नित्य रहनेवाले हो। तुम नित्य होकर भी अनित्यमें फँस जाते हो, अनित्यमें आसक्ति, प्रियता कर लेते हो। इससे तुम्हारे हाथ कुछ नहीं लगता, केवल दुःख-ही-दुःख पाते रहते हो। इस वास्ते तुम आजसे ही यह विचार कर लो कि 'हमलोग पदार्थों और क्रियाओंमें सुख नहीं लेंगे' तो तुमलोग आज ही योगारूढ़ हो जाओगे; क्योंकि योग अर्थात् समता तुम्हारे घरकी चीज है। समता तुम्हारा स्वरूप है और स्वरूप सत् है। सत्का कभी अभाव नहीं होता और असत्का कभी भाव नहीं होता। ऐसे सत्-स्वरूप तुम असत्

पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्ति मत करो, तो तुमको स्वतःसिद्ध योगारूढ अवस्थाका अनुभव हो जायगा।

'सर्वसङ्कल्पसंन्यासी'—हमारे मनमें जितनी स्फुरणाएँ होती हैं उन स्फुरणाओंमेंसे जिस स्फुरणामें सुख होता है और उसको लेकर यह विचार होता है कि 'हमें ऐसा मिल जाय, हम इतने सुखी हो जायँगे,' तो इस तरह स्फुरणामें लिप्तता होनेसे उस स्फुरणाका नाम 'सङ्कल्प' हो जाता है। वह सङ्कल्प ही अनुकूलता-प्रतिकूलताके कारण सुखदायी और दुःखदायी होता है। जैसे सुखदायी सङ्कल्प लिप्तता (राग-द्वेष) करता है, ऐसे ही दुःखदायी सङ्कल्प भी लिप्तता करता है। अतः दोनों ही सङ्कल्प बन्धनमें डालनेवाले हैं। उनसे हानिके सिवाय कुछ लाभ नहीं है; क्योंकि सङ्कल्प अपने स्वरूपका बोध नहीं होने देता। इससे न तो दुनियाकी सेवा हो सकती है, न यह भगवान्‌में प्रेम होने देता है, न भगवान्‌में मन लगने देता है, न अपने नजदीकके कुटुम्बियोंके अनुकूल ही बनने देता है। तात्पर्य है कि अपना सङ्कल्प रखनेसे न अपना हित होता है, न संसारका हित होता है, न कुटुम्बियोंकी कोई सेवा होती है, न भगवान्‌की प्राप्ति होती है और न अपने स्वरूपका बोध ही होता है। इससे केवल हानि-ही-हानि होती है। ऐसा समझकर साधकको सम्पूर्ण सङ्कल्पोंसे रहित हो जाना चाहिये, जो कि वास्तवमें है ही।

मनमें होनेवाली स्फुरणा यदि सङ्कल्पका रूप धारण न करे, तो वह स्फुरणा स्वतः नष्ट हो जाती है। स्फुरणा होनेमात्रसे मनुष्यकी

उतनी हानि नहीं होती और पतन भी नहीं होता; परन्तु समय तो वरबाद हो ही जाता है, इस वास्ते वह स्फुरणा भी त्याज्य है। पर संकल्पोंका त्याग तो साधकको जरूर ही करना चाहिये। कारण कि संकल्पोंका त्याग किये बिना साधक योगारूढ़ नहीं होता और योगारूढ़ हुए बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, कृतकृत्यता नहीं होती, मनुष्यजन्म सार्थक नहीं होता, भगवान्‌में प्रेम नहीं होता, दुःखोंका सर्वथा अन्त नहीं होता।

दूसरे श्लोकमें तो भगवान्‌ने व्यतिरेक रीतिसे कहा है कि संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं होता और यहाँ अन्वय रीतिसे कहते हैं कि संकल्पोंका त्याग करनेसे मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है। इसका तात्पर्य यह निकला कि साधकको किसी प्रकारका संकल्प नहीं रखना चाहिये।

संकल्पोंके त्यागके उपाय—(१) भगवान्‌ने हमारे लिये अपनी तरफसे अन्तिम जन्म (मनुष्यजन्म) दिया है कि तुम इससे अपना उद्धार कर लो। इस वास्ते हमें मनुष्यजन्मके अमूल्य, मुक्ति-दायक समयको निरर्थक संकल्पोंमें वरबाद नहीं करना है—ऐसा विचार करके संकल्पोंको हटा दे।

(२) कर्मयोगके साधकको अपने कर्तव्यका पालन करना है। कर्तव्यका सम्बन्ध वर्तमानसे है, भूत-भविष्यत् कालसे नहीं। परन्तु संकल्प-विकल्प भूत और भविष्यत् कालके होते हैं; वर्तमान-के नहीं। इस वास्ते साधकको अपने कर्तव्यका त्याग करके भूत-भविष्यत् कालके संकल्प-विकल्पोंमें नहीं फँसना चाहिये, प्रत्युत

आसक्तिरहित होकर निरन्तर कर्तव्य-कर्म करनेमें लगे रहना चाहिये —'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' (गीता ३ । १९)।

(३) भक्तियोगके साधकको विचार करना चाहिये कि मनमें जितने भी संकल्प आते हैं, वे प्रायः भूतकालके आते हैं, जो कि अभी नहीं है अथवा भविष्यत् कालके आते हैं, जो कि आगे होनेवाला है अर्थात् जो अभी नहीं है। अतः जो अभी नहीं है, उसके चिन्तनमें समय बरबाद करना और जो भगवान् अभी हैं, अपनेमें हैं और अपने हैं, उनका चिन्तन न करना—यह कितनी बड़ी गल्ती है! ऐसा विचार करके संकल्पोंको हटा दे।

'योगारूढस्तदोच्यते'—सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका नाम 'योग' है—'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' (गीता २ । ४८)। इस योग अर्थात् समतापर आरूढ होना, स्थित होना ही योगारूढ होना है। योगारूढ होनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने यह कहा था कि संकल्पोंका त्याग किये बिना कोई-सा भी योग सिद्ध नहीं होता और यहाँ कहा है कि संकल्पोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे वह योगारूढ हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सभी तरहके योगोंसे योगारूढ अवस्था प्राप्त होती है। यद्यपि यहाँ कर्मयोगका ही प्रकरण है, पर संकल्पोंका सर्वथा त्याग करनेसे योगारूढ अवस्थामें सब एक हो जाते हैं*।

---

* यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता ५।५)

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने योगारूढ़ पुरुषके लक्षण बताते हुए 'यदा' और 'तदा' पदसे योगारूढ़ होनेमें अर्थात् अपना उद्धार करनेमें मनुष्यको स्वतन्त्र बताया। इस वास्ते अब आगेके श्लोकमें भगवान् मनुष्यमात्रको अपना उद्धार करनेकी प्रेरणा देते हैं।

श्लोक—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

अर्थ—

अपनेद्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

व्याख्या—

'उद्धरेदात्मनात्मानम्'—अपने-आपसे अपना उद्धार करे—इसका तात्पर्य है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, आदिसे अपने-आपको ऊँचा उठाये। अपने स्वरूपसे जो एकदेशीय 'मैं'पन दीखता है, उससे भी अपनेको ऊँचा उठाये। कारण कि शरीर, इन्द्रियाँ आदि और 'मैं'-पन—ये सभी प्रकृतिके कार्य हैं; अपना स्वरूप नहीं है। जो अपना स्वरूप नहीं है, उससे अपनेको ऊँचा उठाये।

अपना स्वरूप परमात्माके साथ एक है और शरीर, इन्द्रियाँ आदि तथा 'मैं'-पन प्रकृतिके साथ एक है। अगर यह अपना उद्धार करनेमें अपनेको ऊँचा उठानेमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि

आदिकी सहायता मानेगा, इनका सहारा मानेगा, तो फिर जड़ताका त्याग कैसे होगा ? क्योंकि जड़ वस्तुओंसे सम्बन्ध मानना, उनकी आवश्यकता समझना, उनका सहारा लेना ही खास बन्धन है जो अपने हैं। अपनेमें हैं, अभी हैं और यहाँ हैं, ऐसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। कारण कि असत्‌के द्वारा सत्‌की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत असत्‌के त्यागसे सत्‌की प्राप्ति होती है।

दूसरा भाव यह है कि अभी पूर्वश्लोकमें आया है कि प्राकृत पदार्थ, क्रिया और संकल्पमें आसक्त न हो, उनमें फँसे नहीं, प्रत्युत उनसे अपने-आपको ऊपर उठाये, यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि पदार्थ, क्रिया और संकल्पका आरम्भ तथा अन्त होता है, उनका संयोग तथा वियोग होता है। परन्तु अपने (स्वयंके) अभावका और परिवर्तनका अनुभव किसीको नहीं होता। स्वयं सदा एकरूप रहता है। अतः उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ आदिमें न फँसना, उनके अधीन न होना; उनसे निर्लिप्त रहना ही अपना उद्धार करना है।

मनुष्यमात्रमें एक ऐसी विचारशक्ति है, जिसको काममें लानेसे वह अपना उद्धार कर सकता है। 'ज्ञानयोग' का साधक उस विचारशक्तिसे जड़-चेतनका अलगाव करके चेतन (अपने स्वरूप) में स्थित हो जाता है और जड़ (शरीर-संसार) से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। 'भक्तियोग'का साधक उसी विचारशक्तिसे 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस प्रकार भगवान्‌से आत्मीयता करके

अपना उद्धार कर लेता है। 'कर्मयोग'का साधक उसी विचारशक्तिसे मिले हुए शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि पदार्थोंको संसारका ही मानते हुए संसारकी सेवामें लगाकर उन पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। इस दृष्टिसे मनुष्य अपनी विचारशक्तिको काममें लेकर किसी भी योग-मार्गसे अपना कल्याण कर सकता है।

उद्धार-सम्बन्धी विशेष बात—

विचार करना चाहिये कि 'मैं' शरीर नहीं हूँ; क्योंकि शरीर बदलता रहता है और मैं वही रहता हूँ। यह शरीर 'मेरा' भी नहीं है; क्योंकि शरीरपर मेरा वश नहीं चलता अर्थात् शरीरको मैं जैसा रखना चाहूँ, वह वैसा नहीं रह सकता; जितने दिन रखना चाहूँ, उतने दिन नहीं रह सकता और जैसा सबल बनाना चाहूँ, वैसा बन नहीं सकता। यह शरीर 'मेरे लिये' भी नहीं है; क्योंकि अगर यह मेरे लिये होता तो इसके मिलनेपर मेरी कोई इच्छा बाकी नहीं रहती। दूसरी बात, यह परिवर्तनशील है और मैं अपरिवर्तनशील हूँ। परिवर्तनशील अपरिवर्तनशीलके काम कैसे आ सकता है? नहीं आ सकता। तीसरी बात, अगर यह मेरे लिये होता तो सदा मेरे पास रहता। परन्तु यह मेरे पास नहीं रहता। इस प्रकार शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं और मेरे लिये नहीं—इस वास्तविकतापर मनुष्य दृढ़ रहे, तो अपने-आपसे अपना उद्धार हो जायगा।

अब शङ्का होती है कि ईश्वर, सन्त-महात्मा, गुरु, शास्त्र—इनसे भी तो मनुष्योंका उद्धार होता है; फिर अपने-आपसे अपना

उद्धार करे—ऐसा क्यों कहा ? इसका समाधान है कि ईश्वर, सन्त-महात्मा आदि हमारा उद्धार तभी करेंगे, जब उनमें हमारी श्रद्धा होगी । वह श्रद्धा हमें खुद ही करनी पड़ेगी । खुद श्रद्धा किये बिना क्या वे अपनेमें श्रद्धा करा लेंगे ? नहीं करा सकते । अगर ईश्वर, सन्त आदि हमारे श्रद्धा किये बिना ही अपनेमें हमारी श्रद्धा कराके हमारा उद्धार करते, तो हमारा उद्धार कभीका हो गया होता। कारण कि आज दिनतक भगवान्‌के अनेक अवतार हो चुके हैं, कई तरहके सन्त-महात्मा, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी हो चुके हैं; परन्तु अभी तक हमारा उद्धार नहीं हुआ है । इससे भी यह सिद्ध होता है कि हमने स्वयं उनमें श्रद्धा नहीं की, हम स्वयं उनके सम्मुख नहीं हुए, हमने स्वयं उनकी बात नहीं मानी, इस वास्ते हमारा उद्धार नहीं हुआ है । परन्तु जिन्होंने उनपर श्रद्धा की, जो उनके सम्मुख हो गये, जिन्होंने उनकी बात मानी, उनका उद्धार हो गया । इस वास्ते साधकको शास्त्र, भगवान्, गुरु आदिमें श्रद्धा-विश्वास करके तथा उनकी आज्ञाके अनुसार चलकर अपना उद्धार कर लेना चाहिये ।

भगवान्, सन्त-महात्मा आदिके रहते हुए हमारा उद्धार नहीं हुआ है, तो इसमें उद्धारकी सामग्रीकी कमी नहीं रही है अथवा हम अपना उद्धार करनेमें असमर्थ नहीं हुए हैं । हम अपना उद्धार करनेके लिये तैयार नहीं हुए, इसीसे वे सब मिलकर भी हमारा उद्धार करनेमें समर्थ नहीं हुए । अगर हम अपना उद्धार करनेके लिये तैयार हो जायँ, सम्मुख हो जायँ तो मनुष्यजन्म-जैसी सामग्री और कलियुग-जैसा मौका प्राप्त करके हम कई बार अपना उद्धार कर

सकते हैं। पर यह तब होगा, जब हम स्वयं अपना उद्धार करना चाहेंगे।

दूसरी बात, स्वयंने ही अपना पतन किया है अर्थात् इसने ही संसारके सम्बन्धको पकड़ा है, संसारने इसको नहीं पकड़ा है। जैसे, बाल्यावस्थाको इसने छोड़ा नहीं, प्रत्युत वह स्वाभाविक ही छूट गयी। फिर इसने जवानीके सम्बन्धको पकड़ लिया कि 'मैं जवान हूँ', पर इसका जवानीके साथ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। तात्पर्य यह हुआ कि अगर यह नया सम्बन्ध जोड़े नहीं, तो पुराना सम्बन्ध स्वाभाविक ही छूट जायगा, जो कि स्वतः छूट रहा है। पुराना सम्बन्ध तो रहता नहीं और नया सम्बन्ध यह जोड़ लेता है—इससे सिद्ध होता है कि सम्बन्ध जोड़ने और छोड़नेमें यह स्वतन्त्र और समर्थ है। अगर यह नया सम्बन्ध न जोड़े, तो अपना उद्धार आप ही कर सकता है।

शरीर-संसारके साथ जो संयोग (सम्बन्ध) है, उसका प्रतिक्षण स्वतः वियोग हो रहा है। उस स्वतः होते हुए वियोगको संयोग-अवस्थामें ही स्वीकार कर ले, तो यह अपने-आपसे अपना उद्धार कर सकता है।

'नात्मानमवसादयेत्'—यह अपने-आपको पतनकी तरफ न ले जाय—इसका तात्पर्य है कि परिवर्तनशील प्राकृत पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े अर्थात् उनको महत्त्व देकर उनका दास न बने, अपनेको उनके अधीन न माने, अपने लिये उनकी आवश्यकता न माने। जैसे, किसीको धन मिला, पद मिला, अधिकार मिला,

तो उनके मिलनेसे यह अपनेको बड़ा, श्रेष्ठ और स्वतन्त्र मानता है, पर विचार करके देखें कि यह स्वयं बड़ा हुआ कि धन, पद, अधिकार बड़े हुए? स्वयं चेतन और एकरूप रहते हुए भी इन प्राकृत चीजोंके पराधीन हो जाता है और अपना पतन कर लेता है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि इस पतनमें भी यह अपना उत्थान मानता है और उनके अधीन होकर भी अपनेको स्वाधीन मानता है!

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु'—यह आप ही अपना बन्धु है। अपने सिवाय और कोई बन्धु है ही नहीं। इस वास्ते स्वयको किसीकी जरूरत नहीं है। इसको अपने उद्धारके लिये किसी योग्यताकी जरूरत नहीं है, शरीर इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिकी जरूरत नहीं है और किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिकी भी जरूरत नहीं है। तात्पर्य है कि प्राकृत पदार्थ इसके साधक (सहायक) अथवा बाधक नहीं हैं। यह स्वयं ही अपना उद्धार कर सकता है, इस वास्ते यह स्वयं ही अपना बन्धु (मित्र) है।

हमारे जो सहायक हैं, रक्षक हैं, उद्धारक हैं, उनमें भी जब हम श्रद्धा भक्ति करेंगे, उनकी बात मानेंगे, तभी वे हमारे बन्धु होंगे, सहायक आदि होंगे। अत मूलमें हम ही हमारे बन्धु हो गये, क्योंकि हमारे माने बिना, हमारे श्रद्धा विश्वास किये बिना वे हमारा उद्धार नहीं कर सकते—यह नियम है।

'आत्मैव रिपुरात्मन'—यह आप ही अपना शत्रु है अर्थात् जो अपने द्वारा अपने आपका उद्धार नहीं करता, वह अपने आपका शत्रु है। अपने सिवाय इसका दूसरा कोई शत्रु नहीं है। प्रकृतिके

कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी इसका अपकार करनेमें समर्थ नहीं हैं। ये शरीर, इन्द्रियाँ आदि जैसे इसका अपकार नहीं कर सकते, ऐसे ही इसका उपकार भी नहीं कर सकते। जब स्वयं उन शरीरादिको अपना मान लेता है, तो यह स्वयं ही अपना शत्रु बन जाता है। तात्पर्य है कि उन प्राकृत पदार्थोंसे अपनेपनकी स्वीकृति ही अपने साथ अपनी शत्रुता है।

श्लोकके उत्तरार्धमें दो बार 'एव' पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य है कि अपना मित्र और शत्रु आप ही है, दूसरा कोई मित्र और शत्रु हो ही नहीं सकता और होना सम्भव भी नहीं है। भाव यह हुआ कि प्रकृतिके कार्यके साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध न माननेसे यह आप ही अपना मित्र है और प्रकृतिके कार्यके साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध माननेसे यह आप ही अपना शत्रु है।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने यह बताया कि यह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है, अतः स्वयं अपना मित्र और शत्रु कैसे है? इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं अर्थात् पूर्वश्लोकके उत्तरार्धकी व्याख्या आगेके श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

अर्थ—

जिसने अपने-आपसे अपने-आपको जीत लिया है, उसके लिये आप ही अपना बन्धु है और जिसने अपने-आपको नहीं जीता

है, ऐसे अनात्माका आत्मा ही शत्रुतामें शत्रुकी भाँति बर्ताव करता है।

व्याख्या—

'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः'—अपनेमें अपने सिवाय दूसरेकी सत्ता है ही नहीं। इस वास्ते जिसने अपनेमें अपने सिवाय दूसरे (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) की किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रखी है अर्थात् असत् पदार्थोंके आश्रयका सर्वथा त्याग करके जो अपने सम स्वरूपमें स्थित हो गया है, उसने अपने-आपको जीत लिया है।

वह अपने-आपमें स्थित हो गया—इसकी क्या पहचान है? उसका अन्तःकरण समतामें स्थित हो जायगा; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है। उस ब्रह्मकी निर्दोषता और समता उसके अन्तःकरणपर आ जाती है। इससे पता लग जाता है कि ब्रह्ममें, अपने स्वरूपमें स्थित है*। तात्पर्य यह निकला कि ब्रह्ममें स्थित होनेसे ही उसने अपने द्वारा अपने-आपपर विजय प्राप्त कर ली है। वास्तवमें ब्रह्ममें स्थिति तो नित्य-निरन्तर थी ही, केवल मन, बुद्धि आदिको अपना माननेसे ही उस स्थितिका अनुभव नहीं हो रहा था।

संसारमें दूसरोंकी सहायताके बिना कोई भी किसीपर विजय प्राप्त नहीं कर सकता और दूसरोंकी सहायता लेना ही स्वयंको

---

* इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
(गीता ५।१९)

पराजित करना है ! इस दृष्टिसे स्वयं पहले पराजित होकर ही दूसरोंपर विजय प्राप्त करता है । जैसे, कोई अस्त्र-शस्त्रोंसे दूसरेको पराजित करता है, तो वह दूसरोंको पराजित करनेमें अपने लिये अस्त्र-शस्त्रोंकी आवश्यकता मानता है; अतः स्वयं अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित ही हुआ । कोई शास्त्रके द्वारा, बुद्धिके द्वारा शास्त्रार्थ करके दूसरोंपर विजय प्राप्त करता है, तो वह स्वयं पहले शास्त्र और बुद्धिसे पराजित होता ही है और होना ही पड़ेगा । तात्पर्य यह निकला कि जो किसी भी साधनसे जिस-किसीपर भी विजय करता है, वह अपने-आपको ही पराजित करता है । स्वयं पराजित हुए बिना दूसरोंपर कभी कोई विजय कर ही नहीं सकता—यह नियम है । इस वास्ते जो अपने लिये दूसरोंकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं समझता, वही अपने-आपसे अपने-आपपर विजय प्राप्त करता है और वही स्वयं अपना बन्धु है ।

'अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्'—जो अपने सिवाय दूसरोंकी अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, वैभव, राज्य, जमीन, घर, पद, अधिकार आदिकी अपने लिये आवश्यकता मानता है, वही 'अनात्मा' है । तात्पर्य है कि जो अपना स्वरूप नहीं है, आत्मा नहीं है, उसको अपने लिये आवश्यक और सहायक समझता है तथा उसको अपना स्वरूप मान लेता है, वही अनात्मा है । ऐसा अनात्मा होकर जो किसी भी प्राकृत पदार्थको अपना समझता है, वह आप ही अपने साथ शत्रुताका बर्ताव करता है । यद्यपि वह यही समझता है कि मन, बुद्धि आदिको अपना

मानकर मैंने उनपर अपना आधिपत्य कर लिया है, उनपर विजय प्राप्त कर ली है, पर वास्तवमें (उनको अपना माननेसे) वह खुद ही पराजित हुआ है। तात्पर्य यह निकला कि दूसरोंसे पराजित होकर अपनी विजय समझना ही अपने साथ शत्रुताका बर्ताव करना है।

'शत्रुत्वे' कहनेमें भाव यह है कि जो अपना नहीं है, उससे 'मैं' और 'मेरा'-पनका सम्बन्ध मानना अपने साथ शत्रुपनेमें मुख्य हेतु है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वयं प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है—यहींसे शत्रुता शुरू हो जाती है। मनुष्य प्राकृत चीजोंपर जितना-जितना अधिकार जमाता चला जाता है, उतना-उतना वह अपने-आपको पराधीन बनाता चला जाता है। उसमें भी वह मान, बड़ाई, कीर्ति आदि चाहता है और अधिक-से-अधिक पतनकी तरफ जाता है। उसको दीखता तो यही है कि मैं अच्छा कर रहा हूँ, मेरी उन्नति हो रही है, पर बात बिल्कुल उल्टी है। वास्तवमें अपने साथ अपनी शत्रुताको ही बढ़ा रहा है।

बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो मानवशरीर जडताका सर्वथा त्याग करके केवल चिन्मयताकी प्राप्तिके लिये मिला है, उसको भूलकर वह वर्तमानमें तथा मरनेके बाद भी मूर्ति, चित्र आदिके रूपमें अपना नाम-रूप कायम रहे—इस तरह जड़ताको महत्त्व देकर उसको कायम रखना चाहता है! इस तरह चिन्मय होकर भी जड़ताकी दासतामें फँसकर वह अपने साथ महान् शत्रुताका ही बर्ताव करता है।

'शत्रुवत्' कहनेमें भाव यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको अपना समझकर वह अपनेको उनका अधिपति मानता है; परन्तु वास्तवमें हो जाता है उनका दास। यद्यपि उसका बर्ताव अपनी दृष्टिसे अपना अहित करनेका नहीं होता, तथापि परिणाममें तो उसका अपना अहित ही होता है। इस वास्ते भगवान्‌ने कहा कि उसका बर्ताव अपने साथ शत्रुवत् अर्थात् शत्रुताकी तरह होता है।

तात्पर्य यह हुआ कि कोई भी मनुष्य अपनी दृष्टिसे अपने साथ शत्रुताका बर्ताव नहीं करता। परन्तु असत् वस्तुका आश्रय लेकर मनुष्य अपने हितकी दृष्टिसे भी जो कुछ बर्ताव करता है, वह बर्ताव वास्तवमें अपने साथ शत्रुकी तरह ही होता है; क्योंकि असत् वस्तुका आश्रय परिणाममें जन्म-मृत्युरूप महान् दुःख देनेवाला है।

सम्बन्ध—

अपने द्वारा अपनी विजय करनेका परिणाम क्या होता है? इसका उत्तर आगेके तीन श्लोकोंमें देते हैं।

श्लोक—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

अर्थ—

जिसने अपने-आपपर अपनी विजय कर ली है, उस शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमानमें प्रशान्त—निर्विकार पुरुषको परमात्मा नित्य प्राप्त हैं।

व्याख्या—

[छठे श्लोकमें 'अनात्मनः' पद और यहाँ 'जितात्मनः' पद आया है । इसका तात्पर्य है कि जो 'अनात्मा' होता है, वह शरीरादि प्राकृत पदार्थोंके साथ 'मैं' और 'मेरा'-पन करके अपने साथ शत्रुताका बर्ताव करता है और जो 'जितात्मा' होता है, वह शरीरादि प्राकृत पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध न मानकर अपने साथ मित्रताका बर्ताव करता है । इस तरह अनात्मा पुरुष अपना पतन करता है और जितात्मा पुरुष अपना उद्धार करता है।]

'जितात्मनः'—जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि किसी भी प्राकृत पदार्थको अपने लिये सहायता नहीं मानता और उन प्राकृत पदार्थोंके साथ किञ्चिन्मात्र भी अपनेपनका सम्बन्ध नहीं जोड़ता, उसका नाम 'जितात्मा' है । जितात्मा मनुष्य अपना तो हित करता ही है, उसके द्वारा दुनियाका भी बड़ा भारी हित होता है ।

'शीतोष्णसुखदुःखेषु प्रशान्तस्य'—यहाँ 'शीत' और 'उष्ण' —इन दोनो पदोंपर गहरा विचार करें तो ये ठण्डी और गरमीके वाचक सिद्ध नहीं होते; क्योंकि ठण्डी और गरमी—ये दोनों केवल त्वगिन्द्रियके विषय हैं । अगर जितात्मा पुरुष केवल एक त्वगिन्द्रिय-के विषयमें ही शान्त रहेगा तो श्रवण, नेत्र, रसना और घ्राण—इन इन्द्रियोंके विषय बाकी रह जायँगे अर्थात् इनमें उसका प्रशान्त रहना बाकी रह जायगा, तो उसमें पूर्णता नहीं आयेगी । इस वास्ते यहाँ 'शीत' और 'उष्ण' पद अनुकूलता और प्रतिकूलताके वाचक हैं ।

शीत अर्थात् अनुकूलताकी प्राप्ति होनेपर भीतममें एक तरह-की शीतलता मालूम देती है और उष्ण अर्थात् प्रतिकूलताकी प्राप्ति होनेपर भीतरमें एक तरहका सन्ताप मालूम देता है। तात्पर्य है कि भीतरमें न शीतलता हो और न सन्ताप हो, प्रत्युत एक समान शान्ति बनी रहे अर्थात् इन्द्रियोंके अनुकूल प्रतिकूल विषय, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिकी प्राप्ति होनेपर भीतरकी शान्ति भङ्ग न हो। कारण कि भीतरमें जो स्वतःसिद्ध शान्ति है, वह अनुकूलतामें राजी होनेसे और प्रतिकूलता-में नाराज होनेसे भङ्ग हो जाती है। इस वास्ते शीत-उष्णमें प्रशान्त रहनेका अर्थ हुआ कि बाहरसे आनेवाले संयोग-वियोगका भीतर असर न पड़े।

अब यह विचार करना है कि 'सुख' और 'दुःख' पदसे क्या अर्थ लें। सुख और दुःख दो-दो तरहके होते हैं—(१) साधारण लौकिक दृष्टिसे जिसके पास धन-सम्पत्ति-वैभव, स्त्री-पुत्र आदि अनुकूल सामग्रीकी बहुलता है, उसको लोग 'सुखी' कहते हैं। जिसके पास धन-सम्पत्ति-वैभव, स्त्री-पुत्र आदि अनुकूल सामग्रीका अभाव हो, उसको लोग 'दुःखी' कहते हैं।

(२) जिसके पास बाहरकी सुखदायी सामग्री नहीं है, वह भोजन कहाँ करेगा—इसका पता नहीं है, उसके पास पहननेके लिये पूरे कपड़े नहीं हैं, रहनेके लिये स्थान नहीं है, साथमें कोई सेवा करनेवाला नहीं है—ऐसी अवस्था होनेपर भी जिसके मनमें दुःख-सन्ताप नहीं होता और किसी वस्तु, व्यक्ति,

परिस्थिति आदिकी आवश्यकताका अनुभव भी नहीं करता, प्रत्युत हर हालतमें बड़ा प्रसन्न रहता है, वह 'सुखी' कहलाता है। परन्तु जिसके पास बाहरकी सुखदायी सामग्री पूरी है, भोजनके लिये बढ़िया-से-बढ़िया पदार्थ हैं, पहननेके लिये बढ़िया-से-बढ़िया कपड़े हैं, रहनेके लिये बहुत बढ़िया मकान है, सेवाके लिये कई नौकर हैं—ऐसी अवस्था होनेपर भी भीतरमें रात-दिन चिन्ता रहती है कि मेरी यह सामग्री नष्ट न हो जाय। यह सामग्री कायम कैसे रहे, बढ़े कैसे? आदि। इस तरह बाहरकी सामग्री रहनेपर भी जो भीतरसे दुःखी रहता है, वह 'दुःखी' कहलाता है।

उपर्युक्त दो प्रकारसे सुख-दुःख कहनेका तात्पर्य है—बाहरकी सामग्रीको लेकर सुखी-दुःखी होना और भीतरकी प्रसन्नता-खिन्नता-को लेकर सुखी-दुःखी होना। गीतामें जहाँ सुख-दुःखमें 'सम' होने-की बात आयी है, वहाँ बाहरकी सामग्रीमें सम रहनेके लिये कहा गया है; जैसे—'समदुःखसुखः' (१२ । १३; १४ । २४)' 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' (१२ । १८), आदि। जहाँ सुख-दुःखसे 'रहित' होनेकी बात आयी है, वहाँ भीतरकी प्रसन्नता और खिन्नतासे रहित होनेके लिये कहा गया है; जैसे—'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः' (१५ । ५), आदि। जहाँ सुख-दुःखमें सम होनेकी बात है, वहाँ सुख-दुःखकी सत्ता तो है, पर उनका असर नहीं पड़ता और जहाँ सुख-दुःखसे रहित होनेकी बात है, वहाँ सुख-दुःखकी सत्ता ही नहीं है। इस तरह चाहे बाहरकी सुखदायी-दुःखदायी सामग्री प्राप्त होनेपर भीतरसे सम होना कहो, चाहे

भीतरसे सुख-दुःखसे रहित होना कहो—दोनोंका तात्पर्य एक ही हुआ; क्योंकि सम भी भीतरसे है और रहित भी भीतरसे है।

यहाँ शीत-उष्ण और सुख-दुःखमें प्रशान्त (सम) रहनेकी बात कही गयी है। अनुकूलतासे सुख होता है—'अनुकूलवेदनीयं सुखम्' और प्रतिकूलतासे दुःख होता है—'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'। इस वास्ते अगर शीत-उष्णका अर्थ अनुकूलता-प्रतिकूलता लिया जाय, तो सुख-दुःख कहना व्यर्थ हो जायगा और सुख-दुःख कहनेसे शीत-उष्ण कहना व्यर्थ हो जायगा; क्योंकि सुख-दुःख पद शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता) के ही वाचक हैं। फिर यहाँ शीत-उष्ण और सुख-दुःख पदोंकी सार्थकता कैसे सिद्ध होगी? इसके लिये 'शीत-उष्ण' पदसे प्रारब्धके अनुसार आनेवाली अनुकूलता-प्रतिकूलताको लिया जाय और 'सुख-दुःख' पदसे वर्तमानमें किये जानेवाले क्रियमाण कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्ति तथा उनके तात्कालिक फलकी सिद्धि-असिद्धिको लिया जाय तो इन पदोंकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह निकला कि चाहे प्रारब्धकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति हो, चाहे क्रियामाणकी तात्कालिक सिद्धि-असिद्धि हो—इन दोनोंमें ही प्रशान्त (निर्विकार) रहे।

इस प्रकरणके अनुसार भी उपर्युक्त अर्थ ठीक दीखता है। कारण कि इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें आये 'नेन्द्रियार्थेषु (अनुषज्जते)' पदको यहाँ 'शीत-उष्ण' पदसे कहा गया है और 'न कर्मसु अनुषज्जते' पदोंको यहाँ 'सुख-दुःख' पदसे कहा गया है अर्थात् वहाँ प्रारब्धके अनुसार आयी हुई अनुकूल-प्रतिकूल

परिस्थितिमें और क्रियामाण कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्ति तथा तात्कालिक फलकी सिद्धि-असिद्धिमें आसक्ति-रहित होनेकी बात आयी है और यहाँ उन दोनोंमें प्रशान्त होनेकी बात आयी है।

'तथा मानापमानयोः'—ऐसे ही जो मान-अपमानमें भी प्रशान्त है। अब यहाँ कोई शङ्का करे कि मान-अपमान भी तो प्रारब्धका फल है, इस वास्ते यह शीत-उष्ण (अनुकूल-प्रतिकूल-परिस्थिति) के ही अन्तर्गत आ गया। फिर इसको अलगसे क्यों लिया गया? मान-अपमानको अलगसे इसलिये लिया गया है कि शीत-उष्ण तो दैवेच्छा-(अनिच्छा-) कृत प्रारब्धका फल है, पर मान-अपमान परेच्छाकृत प्रारब्धका फल है। यह परेच्छाकृत प्रारब्ध मान-बड़ाईमें भी होता है और निन्दा-स्तुति आदिमें भी होता है। इस वास्ते 'मान-अपमान' पदमें कोई निन्दा-स्तुति लेना चाहें, तो ले सकते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोगी दूसरोंके द्वारा किये गये मान-अपमानमें भी प्रशान्त रहता है अर्थात् उसकी शान्तिमें किञ्चिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता।

मान-अपमानमें प्रशान्त रहनेका उपाय—साधकका कोई मान-आदर करे, तो साधक यह न माने कि यह तो मेरे कर्मोंका, मेरे गुणोंका, मेरी अच्छाईका फल है, प्रत्युत यही माने कि यह मान-आदर करनेवालेकी सज्जनता है, उदारता है। उसकी सज्जनता-को अपना गुण मानना ईमानदारी नहीं है। अगर कोई अपमान कर दे, तो ऐसा माने कि यह मेरे कर्मोंका ही फल है। इसमें अपमान करनेवालेका कोई दोष नहीं है, प्रत्युत वह तो दयाका पात्र है;

क्योंकि उस बेचारेने मेरे पापोंका फल भुगतानेमें निमित्त बनकर मेरेको शुद्ध कर दिया है। इस तरह माननेसे साधक मान-अपमानमें प्रशान्त, निर्विकार हो जायगा। अगर वह मानको अपना गुण और अपमानको दूसरोंका दोष मानेगा, तो वह मान-अपमानमें प्रशान्त नहीं हो सकेगा।

'परमात्मा समाहितः'—शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान—इन छहोंमें प्रशान्त, निर्विकार रहनेसे सिद्ध होता है कि उसको परमात्मा प्राप्त हैं। कारण कि भीतरसे विलक्षण आनन्द मिले बिना बाहरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, सिद्धि-असिद्धि और मान-अपमानमें वह प्रशान्त नहीं रह सकता। वह प्रशान्त रहता है, तो उसको एकरस रहनेवाला विलक्षण आनन्द मिल गया है। इस वास्ते गीताने जगह-जगह कहा है कि 'जिन पुरुषोंका मन साम्यावस्थामें स्थित है, उन पुरुषोंने इस जीवित-अवस्थामें ही संसारको जीत लिया है' (५ । १९); 'जिस लाभको प्राप्ति होनेपर उससे अधिक लाभका होना मान ही नहीं सकता और जिसमें स्थित होनेपर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं हो सकता (६ । २२), आदि-आदि।

श्लोक—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

अर्थ—

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जो कूटकी तरह निर्विकार है, जितेन्द्रिय है और मिटटीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें

समबुद्धिवाला है—ऐसा योगी युक्त (योगारूढ़) कहा जाता है।

व्याख्या—

'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा'—यहाँ कर्मयोगका प्रकरण है, इस वास्ते यहाँ कर्म करनेकी जानकारीका नाम 'ज्ञान' है और योग अर्थात् कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका नाम 'विज्ञान' है।

स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली समाधि—इन तीनोंको अपने लिये करना 'ज्ञान' नहीं है। कारण कि क्रिया, चिन्तन, समाधि आदि मात्र कर्मका आरम्भ और समाप्ति होती है तथा उन कर्मोंसे मिलनेवाले फलका भी आदि और अन्त होता है। परन्तु स्वयं परमात्माका अंश होनेसे नित्य रहता है। अतः अनित्य कर्म और फलसे इस नित्य रहनेवालेको क्या तृप्ति मिलेगी? जड़के द्वारा चेतनको क्या तृप्ति मिलेगी? ऐसा ठीक अनुभव हो जाय कि कर्मोंके द्वारा मेरेको कुछ भी नहीं मिल सकता, तो यह कर्मोंको करनेका 'ज्ञान' है। ऐसा ज्ञान होनेपर वह कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्तिमें और पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहेगा—यह 'विज्ञान' है। इस ज्ञान और विज्ञानसे वह स्वयं तृप्त हो जाता है। फिर उसके लिये करना, जानना और पाना कुछ भी बाकी नहीं रहता।

'कूटस्थः'*—कूट (अहरन) एक लोहपिण्ड होता है, जिसपर लोहा, सोना, चाँदी आदि अनेक रूपोंमें गढ़े जाते हैं, पर

* जो कूट-(अहरन-) की तरह स्थित रहता है, उसको 'कूटस्थ' कहते हैं—'कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थः'।

वह एकरूप ही रहता है । ऐसे ही सिद्ध महापुरुषके सामने तरह-तरहकी परिस्थितियाँ आती हैं, पर वह कूटकी तरह ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है ।

'विजितेन्द्रियः'—कर्मयोगके साधकको इन्द्रियोंपर विशेष ध्यान देना पड़ता है; क्योंकि कर्म करनेमें प्रवृत्ति होनेके कारण उसके कहीं-न-कहीं राग-द्वेष होनेकी पूरी सम्भावना रहती है । इस वास्ते गीताने कहा है—**'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्'** (१२ । ११) अर्थात् कर्मफलके त्यागमें जितेन्द्रियता मुख्य है । इस तरह साधन-अवस्थामें इन्द्रियोंपर विशेष ख्याल रखनेवाला साधक सिद्ध-अवस्थामें स्वतः 'विजितेन्द्रिय' होता है ।

'समलोष्टाश्मकाञ्चनः'—'लोष्ट' नाम मिट्टीके ढेलेका, 'अश्म' नाम पत्थरका और 'काञ्चन' नाम स्वर्णका है—इन सबमें सिद्ध कर्मयोगी सम रहता है । सम रहनेका अर्थ यह नहीं है कि उसको मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णका ज्ञान नहीं होता । उसको यह ढेला है, यह पत्थर है, यह स्वर्ण है—ऐसा ज्ञान अच्छी तरहसे होता है और उसका व्यवहार भी उनके अनुरूप जैसा होना चाहिये, वैसा ही होता है अर्थात् वह स्वर्णको तिजोरीमें सुरक्षित रखता है और ढेले तथा पत्थरको बाहर ही पड़े रहने देता है । ऐसा होनेपर भी अपना स्वर्ण चला जाय, धन चला जाय, तो उसके मनपर कोई असर नहीं पड़ता और स्वर्ण मिल जाय, तो भी उसके मनपर कोई असर नहीं पड़ता अर्थात् उनके आने-जानेसे, बनने-बिगड़नेसे उसको

हर्ष-शोक नहीं होते— यही उसका सम रहना है। उसके लिये जैसे पत्थर है, वैसे ही सोना है; जैसे सोना है, वैसे ही ढेला है और जैसे ढेला है, वैसे ही सोना है। अतः इनमेंसे कोई चला गया तो क्या ! कोई बिगड़ गया तो क्या ! इन बातोंको लेकर उसके अन्तःकरणमें कोई विकार पैदा नहीं होता। इन स्वर्ण आदि प्राकृत पदार्थोंका मूल्य तो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखते हुए ही मालूम देता है और तभीतक उनके बढ़िया-घटियापनेका अन्तःकरणमें असर होता है। पर वास्तविक बोध हो जानेपर जब प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तो फिर उसके अन्तःकरणमें इन प्राकृत (भौतिक) पदार्थोंका कुछ भी मूल्य नहीं रहता अर्थात् बढ़िया-घटिया सब पदार्थोंमें उसका समभाव हो जाता है।

सार यह निकला कि उसकी दृष्टि पदार्थोंके उत्पन्न और नष्ट होनेवाले स्वभावपर रहती है अर्थात् उसकी दृष्टिमें इन प्राकृत पदार्थोंके उत्पन्न और नष्ट होनेमें कोई फर्क नहीं है। सोना उत्पन्न और नष्ट होता है, पत्थर उत्पन्न और नष्ट होता है तथा ढेला भी उत्पन्न और नष्ट होता है। उनकी इस अनित्यतापर दृष्टि रहनेसे उसको सोना, पत्थर और ढेलेमें तत्त्वसे कोई फर्क नहीं दीखता। इन तीनोंके नाम इसलिये लिये गये हैं कि इनके साथ व्यवहार तो यथायोग्य ही होना चाहिये और यथायोग्य करना ही उचित है तथा वह यथायोग्य व्यवहार करता भी है, पर उसकी दृष्टि उनके विनाशीपनेपर ही रहती है। उनमें जो परमात्मतत्त्व एक समान परिपूर्ण है, उस परमात्मतत्त्वकी स्वतःसिद्ध समता उसमें रहती है।

'युक्त इत्युच्यते योगी'--ऐसा ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त, निर्विकार, जितेन्द्रिय और समबुद्धिवाला योगी युक्त अर्थात् योगारूढ़, सिद्ध कर्म योगी कहा जाता है।

श्लोक—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

अर्थ—

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियोंमें तथा साधु-आचरण करनेवालोंमें और पाप-आचरण करनेवालोंमें भी समबुद्धिवाला पुरुष श्रेष्ठ है।

व्याख्या—

[आठवें श्लोकमें पदार्थोंमें समता बतायी, अब इस श्लोकमें व्यक्तियोंमें समता बताते हैं। व्यक्तियोंमें समता बतानेका तात्पर्य है कि वस्तु तो अपनी तरफसे कोई क्रिया नहीं करती; इस वास्ते उसमें समबुद्धि होना सुगम है। परन्तु व्यक्ति तो अपने लिये और दूसरोंके लिये भी क्रिया करता है, इस वास्ते उसमें समबुद्धि होना कठिन है। अतः व्यक्तियोंके आचरणोंको देखकर भी जिसकी बुद्धिमें, विचारमें कोई विषमता या पक्षपात नहीं होता, ऐसा समबुद्धिवाला पुरुष श्रेष्ठ है।]

'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु'—जो माताकी तरह ही, पर ममता-रहित होकर बिना किसी कारणके सबका हित चाहने और हित करनेके स्वभाववाला होता है, उसको सुहृद् कहते हैं और

जो उपकारके बदले उपकार करनेवाला होता है, उसको 'मित्र' कहते हैं।

जैसे सुहृद्का बिना कारण दूसरोंका हित करनेका स्वभाव होता है, ऐसे ही जिसका बिना कारण दूसरोंका अहित करनेका स्वभाव होता है, उसको 'अरि' कहते हैं। जो अपने स्वार्थसे अथवा अन्य किसी कारणविशेषको लेकर दूसरोंका अहित, अपकार करता है; वह 'द्वेष्य' होता है।

दो आपसमें वाद-विवाद कर रहे हैं, लड़ रहे हैं, उनको देखकर भी जो तटस्थ रहता है, किसीका किञ्चिन्मात्र भी पक्षपात नहीं करता और अपनी तरफसे कुछ कहता भी नहीं, वह 'उदासीन' कहलाता है। परन्तु उन दोनोंकी लड़ाई मिट जाय और दोनोंका हित हो जाय— ऐसी चेष्टा करनेवाला 'मध्यस्थ' कहलाता है।

एक तो 'बन्धु' अर्थात् सम्बन्धी है और दूसरा बन्धु नहीं है, पर दोनोंके साथ बर्ताव करनेमें उसके मनमें कोई विषमभाव नहीं होता। जैसे, उसके पुत्रने अथवा अन्य किसीके पुत्रने कोई बुरा काम किया है, तो वह उनके अपराधके अनुरूप दोनोंको ही समान दण्ड देता है, ऐसे ही उसके पुत्रने अथवा दूसरेके पुत्रने कोई अच्छा काम किया है, तो उनको पुरस्कार देनेमें भी, उसका कोई पक्षपात नहीं होता।

'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते'—श्रेष्ठ आचरण करनेवालों और पाप-आचरण करनेवालोंके साथ व्यवहार करनेमें तो अन्तर होता है और अन्तर होना ही चाहिये, पर उन दोनोंकी

हितैषितामें अर्थात् उनका हित करनेमें, दुःखके समय उनकी सहायता करनेमें उसके अन्तःकरणमें कोई विषमभाव, पक्षपात नहीं होता। 'सबमें एक परमात्मा हैं' ऐसा स्वयंमें होता है, बुद्धिमें सबकी हितैषिता होती है, मनमें सबका हितचिन्तन होता है और व्यवहारमें परता-ममता छोड़कर सबके सुखका सम्पादन होता है।

जहाँ विषमबुद्धि अधिक रहनेकी सम्भावना है, वहाँ भी समबुद्धि होना विशेष है। वहाँ समबुद्धि हो जाय, तो फिर सब जगह समबुद्धि हो जाती है।

इस श्लोकमें भाव, गुण, आचरण आदिकी भिन्नताको लेकर नौ प्रकारके प्राणियोंका नाम आया है। इन प्राणियोंके भाव, गुण, आचरण आदिकी भिन्नताको लेकर उनके साथ बर्ताव करनेमें विषमता आ जाय, तो वह दोषी नहीं है। कारण कि वह बर्ताव तो उनके भाव, आचरण, परिस्थिति आदिके अनुसार ही है और उनके लिये ही है, अपने लिये नहीं। परन्तु उन सबमें परमात्मा ही परिपूर्ण हैं—इस भावमें कोई फर्क नहीं आता और अपनी तरफसे सबकी सेवा बन जाय—इस भावमें भी कोई अन्तर नहीं आता।

तात्पर्य यह हुआ कि जिस किसी मार्गसे जिसको तत्त्वबोध हो जाता है, उसकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है अर्थात् किसी भी जगह पक्षपात न होकर समान रीतिसे सेवा और हित-का भाव हो जाता है। जैसे भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९), ऐसे ही वह सिद्ध

कर्मयोगी भी सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् हो जाता है—'सुहृदः सर्वदेहिनाम्' (श्रीमद्भा० ३ । २५ । २१) ।

यहाँ सुहृद्, मित्र आदि नाम लेनेके बाद अन्तमें 'साधुष्वपि च पापेषु' कहनेका तात्पर्य है कि जिसकी श्रेष्ठ आचरणवालों और निकृष्ट आचरणवालोंमें समबुद्धि हो जायगी, उसकी सब जगह समबुद्धि हो जायगी । कारण कि संसारमें आचरणोंकी ही मुख्यता है; आचरणोंका ही असर पड़ता है, आचरणोंसे ही मनुष्यकी परीक्षा होती है, आचरणोंसे ही श्रद्धा-अश्रद्धा होती है, स्वाभाविक दृष्टि आचरणोंपर ही पड़ती है और आचरणोंसे ही सद्भाव-दुर्भाव पैदा होते हैं । भगवान्‌ने भी 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' (३ । २१) कहकर आचरणकी बात मुख्य बतायी है । इस वास्ते श्रेष्ठ आचरणवाले और निकृष्ट आचरणवाले—इन दोनोंमें समता हो जायगी, तो सब जगह समता हो जायगी । इन दोनोंमें भी श्रेष्ठ आचरणवाले पुरुषोंमें तो सद्भाव होना सुगम है, पर पाप-आचरणवाले पुरुषोंमें सद्भाव होना कठिन है । इस वास्ते भगवान्‌ने यहाँ 'अपि च' दो अव्ययोंका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है 'और पाप-आचरण करनेवालोंमें भी' जिसकी समबुद्धि है, वह श्रेष्ठ है ।

यहाँ दीखनेवालोंको लेकर देखनेवालेकी स्थितिका वर्णन किया गया है, इस वास्ते 'समबुद्धिर्विशिष्यते' कहा है । देखनेवालेमें जो समबुद्धि होती है, वह हरेकको दीखती नहीं, पर साधकके लिये तो वही मुख्य है; क्योंकि साधक 'मैं अपनी दृष्टिसे कैसा हूँ, ऐसे

अपने-आपको देखता है। इस वास्ते अपने-आपसे अपना उद्धार करनेके लिये कहा गया है (६।५)।

संसारमें प्रायः दूसरोंके आचरणोंपर ही दृष्टि रहती है। साधक-को विचार करना चाहिये कि मेरी दृष्टि अपने भावोंपर रहती है या दूसरोंके आचरणोंपर? दूसरोंके आचरणोंपर दृष्टि रहनेसे जिस दृष्टिसे अपना कल्याण होता है, वह दृष्टि बन्द हो जाती है और अँधेरा हो जाता है। इस वास्ते दूसरोंके श्रेष्ठ और निकृष्ट आचरणों-पर दृष्टि न पड़ करके उनका जो वास्तविक स्वरूप है, उसपर दृष्टि पड़नी चाहिये। स्वरूपपर दृष्टि रहनेसे उनके आचरणोंपर दृष्टि नहीं रहेगी; क्योंकि स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, जबकि आचरण बदलते रहते हैं। सत्य-तत्त्वपर रहनेवाली दृष्टि भी सत्य होती है। परन्तु जिसकी दृष्टि केवल आचरणोंपर ही रहती है, उसकी दृष्टि असत्‌पर रहनेसे असत् ही होती है। इसमें भी अशुद्ध आचरणोंपर जिसकी ज्यादा दृष्टि है, उसका तो पतन ही समझना चाहिये। तात्पर्य है कि जो आचरण आदरणीय नहीं हैं, ऐसे अशुद्ध आचरणोंको जो मुख्यता देता है, वह तो अपना पतन ही करता है। इस वास्ते भगवान्‌ने यहाँ अशुद्ध आचरण करनेवाले पापीमें भी समबुद्धिवालेको श्रेष्ठ बताया है। कारण कि उसकी दृष्टि सत्य-तत्त्वपर रहनेसे उसकी दृष्टिमें सब कुछ वासुदेव ही रहता है। फिर आगे चलकर सब कुछ नहीं रहता, केवल वासुदेव ही रहता है। उसीकी यहाँ 'समबुद्धिर्विशिष्यते' पदसे महिमा गायी गयी है।

विशेष बात

गीताका योग 'समता' ही है—'समत्वं योग उच्यते' (२ । ४८)। गीताकी दृष्टिसे अगर समता आ गयी तो दूसरे किसी लक्षणकी जरूरत नहीं है अर्थात् जिसको वास्तविक समताकी प्राप्ति हो गयी है, उसमें सभी सद्गुण-सदाचार स्वतः आ जायँगे और उसकी संसारपर विजय हो जायगी (५ । १९)। विष्णुपुराणमें प्रह्लादजीने भी कहा है कि समता भगवान्‌की आराधना (भजन) है—'समत्वमाराधनमच्युतस्य' (१ । १७ । ९०)। इस तरह जिस समताकी असीम, अपार, अनन्त महिमा है, जिसका वर्णन कभी कोई कर ही नहीं सकता, उस समताकी प्राप्तिका उपाय है—बुराई-रहित होना। बुराई-रहित होनेका उपाय है—(१) किसीको बुरा न समझें, (२) किसीकी बुराई न करें, (३) किसीकी बुराई न सोचें, (४) किसीमें बुराई न देखें, (५) किसीकी बुराई न सुनें, (६) किसीकी बुराई न कहें। इन छः बातोंका दृढ़तासे पालन करें, तो हम बुराई-रहित हो जायँगे। बुराई-रहित होते ही हमारेमें स्वतः स्वाभाविक अच्छाई आ जायगी; क्योंकि अच्छाई हमारा स्वरूप है।

अच्छाईको लानेके लिये हम प्रयत्न करते हैं, साधन करते हैं; परन्तु वर्षोंतक साधन करनेपर भी वास्तविक सच्चाई हमारेमें नहीं आती और साधन करनेपर खुदको भी सन्तोष नहीं होता, प्रत्युत यही विचार होता है कि इतना साधन करनेपर भी सद्गुण-सदाचार नहीं आये। इस वास्ते 'ये सद्गुण-सदाचार

आनेके हैं नहीं—ऐसा समझकर हम साधनसे हताश हो जाते हैं। हताश होनेमें मुख्य कारण यही है कि हमने अच्छाईको उद्योगसाध्य माना है और बुराईको सर्वथा नहीं छोड़ा है। बुराईका सर्वथा त्याग किये बिना आंशिक अच्छाई बुराईको बल देती रहती है। कारण कि आंशिक अच्छाईसे अच्छाईका अभिमान होता है और जितनी बुराई है, वह सब-की-सब अच्छाईके अभिमानपर ही अवलम्बित है। पूर्ण अच्छाई होनेपर अच्छाईका अभिमान नहीं होता और बुराई भी उत्पन्न नहीं होती। इस वास्ते बुराईका त्याग करनेपर अच्छाई बिना उद्योग किये और बिना चाहे स्वतः आ जाती है। जब अच्छाई हमारेमें आ जाती है, तो हम अच्छे हो जाते हैं। जब हम अच्छे हो जाते हैं, तो हमारे द्वारा स्वाभाविक ही अच्छाई होने लगती है। जब अच्छाई होने लग जाती है, तब सृष्टिके द्वारा स्वाभाविक ही हमारा जीवन-निर्वाह होने लगता है अर्थात् जीवन-निर्वाहके लिये हमें परिश्रम नहीं करना पड़ता और दूसरोंका आश्रय भी नहीं लेना पड़ता। ऐसी अवस्थामें हम संसारके आश्रयसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। संसारके आश्रयसे सर्वथा मुक्त होते ही हमें स्वतःसिद्ध समता प्राप्त हो जाती है और हम कृतकृत्य हो जाते हैं, जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

सम्बन्ध—

जो समता (समबुद्धि) कर्मयोगसे प्राप्त होती है, वही समता ध्यानयोगसे भी प्राप्त होती है। इस वास्ते भगवान् ध्यानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले ध्यानयोगके लिये प्रेरणा करते हैं।

श्लोक—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

अर्थ—

भोगबुद्धिसे संग्रह न करनेवाला, इच्छारहित और मन-बुद्धि-इन्द्रियाको वशमें रखनेवाला योगी अकेला एकान्तमें स्थित होकर मनको निरन्तर परमात्मामें लगाये।

व्याख्या—

[पाँचवें अध्यायके सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें जिस ध्यान-योगका संक्षेपसे वर्णन किया था, अब यहाँ उसीका विस्तारसे वर्णन कर रहे हैं ।

गीतामें 'योग' शब्दके बड़े विचित्र-विचित्र अर्थ हैं। उनके हम तीन विभाग कर सकते हैं—समता, मनकी स्थिरता और संयमन; क्योंकि 'योग' शब्द तीन धातुओंसे बनता है—'युजिर् योगे' 'युज् समाधौ' और 'युज् संयमने'। इन तीनोंमेंसे 'युजिर् योगे' धातुसे जो 'योग' शब्द बनता है, उसका अर्थ होता है—परमात्माके साथ जो नित्य-सम्बन्ध है, उसको जाग्रत् करनेका साधन। यही अर्थ गीतामें मुख्यतासे आया है। 'युज् समाधौ' धातुसे जो 'योग' शब्द बनता है, उसका अर्थ होता है—मनको स्थिर करना, समाधिमें स्थित होना और 'युज् संयमने' धातुसे जो 'योग' शब्द बनता है, उसका अर्थ होता है—भगवान्का वह प्रभाव (सामर्थ्य), जिससे सम्पूर्ण संसारका संयमन होता है।

'युज् समाधौ' धातुसे जो 'योग' शब्द बनता है, जिसका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध करना है*, उस योगका वर्णन यहाँ दसवें श्लोकसे आरम्भ करते हैं, ।]

'अपरिग्रहः'—चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगका साधन संसारमात्रसे विमुख होकर और केवल परमात्माके सम्मुख होकर किया जाता है। इस वास्ते उसके लिये पहला साधन बताते हैं—'अपरिग्रहः' अर्थात् अपने लिये सुख-बुद्धिसे कुछ भी संग्रह न करे। कारण कि अपने सुखके लिये भोग और संग्रह करनेसे उसमें मनका खिंचाव रहेगा, जिससे साधकका मन ध्यानमें नहीं लगेगा। इस वास्ते ध्यानयोगके साधकके लिये अपरिग्रह होना जरूरी है।

'निराशीः'†—पहले 'अपरिग्रहः' पदसे बाहरके भोग-पदार्थोंका त्याग बताया, अब 'निराशीः' पदसे भीतरकी भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग करनेके लिये कहते हैं। तात्पर्य यह है कि भीतरमें किसी भी भोगको भोगबुद्धिसे भोगनेकी इच्छा, कामना, आशा न रखे। कारण कि मनमें उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका महत्त्व, आशा, कामना परमात्मप्राप्तिमें महान् बाधक है। इस वास्ते इसमें साधकको सावधान रहना चाहिये।

'यतचित्तात्मा'—बाहरसे अपने सुखके लिये पदार्थ और संग्रहका त्याग तथा भीतरसे उनकी कामना, आशाका त्याग होनेपर भी

---

* 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (पातञ्जलयोगदर्शन १ । २)

† 'आशिष्' नाम इच्छाका है और 'निस्' नाम रहित होनेका है; अतः 'निराशीः' का अर्थ हुआ—इच्छासे रहित होना।

मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिमें नया राग होनेकी सम्भावना रहती है, इस वास्ते यहाँ तीसरा साधन बताते हैं—'यतचित्तात्मा' अर्थात् साधक अन्तःकरणसहित इन्द्रियों, शरीर आदिको वशमें रखनेवाला हो। इनके वशमें होनेपर फिर नया राग पैदा नहीं होगा। इनको वशमें करनेका उपाय है—कोई भी नया काम रागपूर्वक न करे। कारण कि रागपूर्वक प्रवृत्ति होनेसे शरीरकी आराम-आलस्यमें, इन्द्रियोंकी भोगोंमें और मनकी भोगोंके अथवा व्यर्थ चिन्तनमें प्रवृत्ति होती है, इस वास्ते इन्द्रियों, शरीर आदिको वशमें करनेकी बात कही गयी है।

'योगी'—जिसका ध्येय, लक्ष्य केवल परमात्मामें लगनेका ही है अर्थात् जो परमात्मप्राप्तिके लिये ही ध्यानयोग करनेवाला है, सिद्धियों और भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, उसको यहाँ 'योगी' कहा गया है।

'एकाकी'—ध्यानयोगका साधक अकेला हो, साथमें कोई सहायक न हो, क्योंकि दो होंगे तो बातचीत होने लग जायगी और साथमें कोई सहायक होगा तो रागके कारण उसकी याद आती रहेगी, जिससे मन भगवान्में नहीं लगेगा।

'रहसि स्थितः'—साधकको कहाँ स्थित होना चाहिये—इसके लिये बताते हैं कि वह एकान्तमें स्थित रहे अर्थात् ऐसे स्थानमें स्थित रहे, जहाँ ध्यानके विरुद्ध कोई वातावरण न हो। वह नदीका किनारा हो, वनमें एकान्त स्थान हो, एकान्त मन्दिर आदि हो अथवा घरमें ही एक कमरा ऐसा हो, जिसमें केवल भजन-ध्यान किया जाय।

उसमें न तो स्वयं भोजन-शयन करे और न दूसरा ही कोई करे।

'आत्मानं सततं युञ्जीत'—उपर्युक्त प्रकारसे एकान्तमें बैठकर मनको निरन्तर भगवान्में लगाये। मनको निरन्तर भगवान्में लगानेके लिये खास बात है कि जब ध्यान करनेके लिये एकान्त स्थानपर जाय, तो जानेसे पहले ही यह विचार कर ले अब मेरेको संसारका कोई काम नहीं करना है, केवल भगवान्का ध्यान ही करना है। ऐसा विचार करके आसनपर बैठनेसे पहले श्वासोंको बाहर छोड़कर साथ-ही-साथ यह समझ ले कि अब मैंने संसारको बाहर निकाल दिया है, अब भगवान्के सिवाय दूसरेका चिन्तन करना ही नहीं है। इस बातको लेकर निरन्तर सावधान रहे; क्योंकि सावधानी ही साधना है।

साधकके लिये इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि वह ध्यानके समय तो भगवान्के चिन्तनमें तत्परतापूर्वक लगा रहे, व्यवहारके समय भी निर्लिप्त रहते हुए भगवान्का चिन्तन करता रहे; क्योंकि व्यवहारके समय भगवान्का चिन्तन न होनेसे संसारमें लिप्तता अधिक होती है। व्यवहारके समय भगवान्का चिन्तन करनेसे ध्यानके समय चिन्तन करना सुगम होता है और ध्यानके समय ठीक तरहसे चिन्तन होनेसे व्यवहारके समय भी चिन्तन होता रहता है अर्थात् दोनों समयमें किया गया चिन्तन एक-दूसरेका सहायक होता है। तात्पर्य है कि साधकका साधकपना हर समय जाग्रत् रहे। वह संसारमें तो भगवान्को मिलाये, पर भगवान्में संसारको न मिलाये अर्थात् सांसारिक कार्य करते समय भी भगवत्स्मरण करता रहे।

अगर ध्यानके लिये बैठते समय साधक 'अमुक काम करना है, इतना लेना है, इतना देना है, अमुक जगह जाना है, अमुकसे मिलना है' आदि कार्योंको मनमें जमा रखेगा अर्थात् मनमें इनका संकल्प करेगा, तो उसका मन भगवान्के ध्यानमें नहीं लगेगा। इस वास्ते ध्यानके लिये बैठते समय यह दृढ़ निश्चय कर ले कि चाहे जो हो जाय, गरदन भले ही कट जाय, मेरेको केवल भगवान्का ध्यान ही करना है। ऐसा दृढ़ विचार होनेसे भगवान्में मन लगानेमें बड़ी सुविधा हो जायगी।

साधकोंकी यह शिकायत रहती है कि भगवान्में मन नहीं लगता, तो इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि साधक संसारसे सम्बन्ध तोड़कर ध्यान नहीं करते, प्रत्युत संसारसे सम्बन्ध जोड़कर करते हैं। इस वास्ते अपने सुख, सेवाके लिये भीतरसे किसीको भी अपना न माने अर्थात् किसीमें ममता न रखे; क्योंकि मन वहीं जायगा, जहाँ ममता होगी। इस वास्ते उद्देश्य केवल परमात्माका रहे और सबसे निर्लिप्त रहे, तो भगवान्में मन लगाया जा सकता है।

विशेष बात

अर्जुन पहले भी युद्धके लिये तैयार थे और अन्तमें भी उन्होंने युद्ध किया। केवल बीचमें वे युद्धको पाप समझने लगे थे तो भगवान्के समझा देनेसे उन्होंने युद्ध करना स्वीकार किया। इस तरह प्रसङ्ग कर्मोंका होनेसे गीतामें कर्मयोगका विषय आना तो ठीक ही था पर इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कई पारमार्थिक साधनोंका वर्णन

कैसे आया ? उनमें भी यहाँ ध्यानयोगका वर्णन आया, जिसमें केवल एकान्तमें बैठकर ध्यान लगाना पड़ता है । यह प्रसङ्ग ही यहाँ क्यों आया ?

अर्जुन पापके भयसे युद्धसे उपरत होते हैं, तो उनके भीतर कल्याणकी इच्छा जाग्रत् होती है । इस वास्ते वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि जिससे मेरा निश्चित श्रेय (कल्याण) हो वह बात आप कहिये* । इसपर भगवान्‌को श्रेय करनेवाले जितने मार्ग हैं, वे सब बताने पड़े । उनमें यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन, प्राणायाम, ध्यानयोग, हठयोग, लययोग आदिको कहना भी कर्तव्य हो जाता है । इस वास्ते भगवान्‌ने गीतामें कल्याणकारक साधन बताये हैं । उन सब साधनोंमें भगवान्‌ने खास बात बतायी कि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका जो लक्ष्य है, वही खास बन्धनकारक है । अगर साधकका लक्ष्य केवल परमात्माका है, तो फिर उसके सामने कोई भी कर्तव्य-कर्म आ जाय, उसको समभावसे करना चाहिये । समभावसे किये गये सब-के-सब कर्तव्य-कर्म कल्याण करनेवाले होते हैं ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने ध्यानयोगके लिये प्रेरणा की । ध्यानयोगका साधन कैसे करे ? इसके लिये अब आगेके तीन श्लोकोंमें ध्यानकी उपयोगी बातें बताते हैं ।

---

* 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गीता २ । ७)
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ (गीता ३ । २)
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ (गीता ५ । १)

श्लोक—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

अर्थ—

शुद्ध भूमिपर, जिसपर क्रमशः कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न अत्यन्त ऊँचा है और न अत्यन्त नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर-स्थापन करके।

व्याख्या—

'शुचौ देशे'—भूमिकी शुद्धि दो तरहकी होती है—(१) स्वाभाविक शुद्ध स्थान, जैसे—गङ्गा आदिका किनारा, जंगल; तुलसी, आँवला, पीपल आदि पवित्र वृक्षोंके पासका स्थान आदि और (२) शुद्ध किया हुआ स्थान, जैसे—भूमिको गायके गोबरसे लीपकर अथवा जल छिड़ककर शुद्ध किया जाय, जहाँ मिट्टी हो, वहाँ ऊपरकी चार पाँच अंगुल मिट्टी दूर करके भूमिको शुद्ध किया जाय। ऐसी स्वाभाविक अथवा शुद्ध की हुई समतल भूमिमें काठ या पत्थरकी चौकी आदिको लगा दे।

'चैलाजिनकुशोत्तरम्'—यद्यपि पाठके अनुसार क्रमशः वस्त्र, मृगछाला और कुश बिछानी चाहिये*, तथापि बिछानेमें पहले

* श्लोकमें जैसा पाठ है, अगर वैसा ही लिया जाय तो नीचे कपड़ा, उसके ऊपर मृगछाला और उसके ऊपर कुश बिछानी पड़ेगी। परन्तु यह क्रम लेना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि कुश शरीरमें गड़ती है। इस वास्ते नीचे कुश उसके ऊपर मृगछाला और उसके ऊपर कपड़ा—ऐसा क्रम लिया गया है, क्योंकि पाठ क्रमसे अर्थ-क्रम बलवान् होता है—'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्'।

कुश बिछा दे, उसके ऊपर बिना मारे हुए मृगका अर्थात् अपने-आप मरे हुए मृगका चर्म बिछा दे; क्योंकि मारे हुए मृगका चर्म अशुद्ध होता है। अगर ऐसी मृगछाला न मिले; तो कुशपर टाटका बोरा अथवा ऊनका कम्बल बिछा दे। फिर उसके ऊपर कोमल सूती कपड़ा बिछा दे। कुशपर मृगछाला बिछानेका तात्पर्य है कि कुश शरीरमें गड़े नहीं और मृगछालापर कपड़ा बिछानेका तात्पर्य है कि मृगछालाके रोम (बाल) शरीरमें न लगें।

वाराह भगवान्‌के रोमसे उत्पन्न होनेके कारण कुश बहुत पवित्र माना गया है, इस वास्ते उससे बना आसन काममें लाते हैं। ग्रहण आदिके समय सूतकसे बचनेके लिये अर्थात् शुद्धिके लिये कुशको पदार्थोंमें, कपड़ोंमें रखते हैं। पवित्री, प्रोक्षण आदिमें भी इसको काममें लेते हैं। इस वास्ते भगवान्‌ने कुश बिछानेके लिये कहा है।

हमारे शरीरमें जो विद्युत्-शक्ति है, वह आसनमेंसे होकर जमीनमें न चली जाय, इस वास्ते (विद्युत्-शक्तिको रोकनेके लिये) मृगछाला बिछानेका विधान आया है।

मृगछालाके रोम (रोएँ) शरीरमें न लगें और आसन कोमल रहे, इस वास्ते मृगछालाके ऊपर सूती शुद्ध कपड़ा बिछानेके लिये कहा गया है। अगर मृगछालाकी जगह कम्बल या टाट हो, तो वह गरम न हो जाय, इसलिये उसपर सूती कपड़ा बिछाना चाहिये।

'नात्युच्छ्रितं नातिनीचम्'—समतल शुद्ध भूमिमें जो तख्त या चौकी रखी जाय, वह न अत्यन्त ऊँची हो और न अत्यन्त

नीची हो। कारण कि अत्यन्त ऊँचा होनेसे ध्यान करते समय अचानक नींद आ जाय तो गिरनेकी और चोट लगनेकी सम्भावना रहेगी और अत्यन्त नीचा होनेसे भूमिपर घूमनेवाले चींटी आदि जन्तुओंके शरीरपर चढ़ जानेसे और काटनेसे ध्यानमें विक्षेप होगा। इस वास्ते अति ऊँचे और अति नीचे आसनका निषेध किया गया है।

'प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः'—ध्यानके लिये भूमिपर जो आसन—चौकी या तख्त रखा जाय, वह हिलनेवाला न हो। भूमिपर उसके चारों पाये ठीक तरहसे स्थिर रहें।

जिस आसनपर बैठकर ध्यान आदि किया जाय, वह आसन अपना होना चाहिये, दूसरेका नहीं; क्योंकि दूसरेका आसन काममें लिया जाय तो उसमें वैसे ही परमाणु रहते हैं। इस वास्ते यहाँ 'आत्मनः' पदसे अपना अलग आसन रखनेका विधान आया है। इसी तरहसे गोमुखी, माला, सन्ध्याके पञ्चपात्र, आचमनी आदि भी अपने अलग रखने चाहिये।

शास्त्रोंमें तो यहाँतक विधान आया है कि दूसरोंके बैठनेका आसन, पहननेकी जूती, खड़ाऊँ, कुर्ता आदिको अपने काममें लेनेसे अपनेको दूसरोंके पाप-पुण्यका भागी होना पड़ता है। पुण्यात्मा सन्त-महात्माओंके आसनपर भी नहीं बैठना चाहिये, क्योंकि उनके आसन, कपड़े आदिको पैरसे छूना भी उनका निरादर करना है, अपराध करना है।

श्लोक—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

अर्थ—

उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ।

व्याख्या—

[पूर्वश्लोकमें बिछाये जानेवाले आसनकी विधि बतानेके बाद अब भगवान् बारहवें और तेरहवें श्लोकमें बैठनेवाले आसनकी विधि बताते हैं ।]

'तत्र आसने'—जिस आसनपर क्रमशः कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछाया हुआ है, ऐसे पूर्वश्लोकमें वर्णित आसनके लिये यहाँ 'तत्र आसने' पद आये हैं ।

'उपविश्य'—उस बिछाये हुए आसनपर सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन आदि किसी भी आसनसे सुखपूर्वक बैठ सके, उस आसनसे बैठ जाना चाहिये । आसनके विषयमें ऐसा आया है कि जिस किसी आसनसे बैठे, उसीमें लगातार तीन घण्टेतक बैठा रहे । उतने समयतक इधर-उधर हिले-डुले नहीं । ऐसा बैठनेका अभ्यास सिद्ध होनेसे मन और प्राण स्वतः-स्वाभाविक शान्त हो जाते हैं । कारण कि मनकी चञ्चलता शरीरको स्थिर नहीं होने देती और शरीरकी चञ्चलता, क्रिया-प्रवणता मनको स्थिर नहीं होने देती । इस वास्ते ध्यानके समय शरीरका स्थिर रहना बहुत आवश्यक है ।

'यतचित्तेन्द्रियक्रियः'—आसनपर बैठनेके समय चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाएँ वशमें रहनी चाहिये। व्यवहारके समय भी शरीर, मन, इन्द्रियों आदिकी क्रियाओंपर अपना अधिकार रहना चाहिये। कारण कि व्यवहारकालमें चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाएँ वशमें नहीं होंगी, तो ध्यानके समय भी वे क्रियाएँ जल्दी वशमें नहीं हो सकेंगी। इस वास्ते व्यवहारकालमें भी चित्त आदिकी क्रियाओंको वशमें रखना जरूरी है। तात्पर्य है कि अपना जीवन ठीक तरहसे संयत होना चाहिये। आगे सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंमें भी संयत जीवन रखनेके लिये कहा गया है।

'एकाग्रं मनः कृत्वा'—मनको एकाग्र करे अर्थात् मनमें संसारके चिन्तनको बिल्कुल मिटा दे। इसके लिये ऐसा विचार करे कि अब मैं ध्यान करनेके लिये आसनपर बैठा हूँ। अगर इस समय मैं संसारका चिन्तन करूँगा तो अभी संसारका काम तो होगा नहीं और संसारका चिन्तन होनेसे परमात्माका चिन्तन, ध्यान भी नहीं होगा। इस तरह दोनों ओरसे मैं रीता रह जाऊँगा और ध्यानका समय बीत जायगा। इसलिये इस समय मेरेको संसारका चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत मनको केवल परमात्मामें ही लगाना है। ऐसा दृढ निश्चय करके बैठ जाय। ऐसा दृढ निश्चय करनेपर भी संसारकी कोई बात याद आ जाय तो उसको यही समझे कि यह चिन्तन मेरा किया हुआ नहीं है; किन्तु आप-से-आप आया हुआ है। जो चिन्तन आप-से-आप आता है, उसको हम पकड़ें नहीं अर्थात् न तो उसका अनुमोदन करें और न उसका विरोध ही करें। ऐसा

करनेपर वह चिन्तन अपने-आप निर्जीव होकर नष्ट हो जायगा अर्थात् जैसे आया, वैसे चला जायगा; क्योंकि जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट होता ही है—यह नियम है। जैसे संसारमें बहुत-से अच्छे-मन्दे कार्य होते रहते हैं, पर उनके साथ हम अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते तो उनका हमारेपर कोई असर नहीं होता अर्थात् हमें उनका पाप पुण्य नहीं लगता। ऐसे ही आप-से-आप आनेवाले चिन्तनके साथ हम सम्बन्ध नहीं जोड़ेंगे, तो उस चिन्तनका हमारेपर कोई असर नहीं होगा, उसके साथ हमारा मन नहीं चिपकेगा। जब मन नहीं चिपकेगा तो वह स्वतः एकाग्र हो जायगा, शान्त हो जायगा।

'युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये'—अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही ध्यानयोगका अभ्यास करे। सांसारिक पदार्थ, भोग, मान, बड़ाई, आराम, यश-प्रतिष्ठा, सुख-सुविधा आदिका उद्देश्य रखना अर्थात् इनकी कामना रखना ही अन्तःकरणकी अशुद्धि है और सांसारिक पदार्थ आदिकी प्राप्तिका उद्देश्य, कामना न रखकर केवल परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है।

ऋद्धि, सिद्धि आदिकी प्राप्तिके लिये और दूसरोंको दिखानेके लिये भी योगका अभ्यास किया जा सकता है, पर उनसे अन्तःकरण-की शुद्धि हो जाय—ऐसी बात नहीं है। 'योग' एक शक्ति है, जिसको सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिमें लगा दें तो भोग—ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँगी और परमात्माकी प्राप्तिमें लगा दें तो परमात्म-प्राप्तिमें सहायक बन जायगी।

श्लोक—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

अर्थ—

काया, शिर और ग्रीवाको सीधे अचल धारण करके और दिशाओंको न देखकर केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखते हुए स्थिर होकर बैठे।

व्याख्या—

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलम्'—यद्यपि 'काय' नाम शरीरमात्रका है, तथापि यहाँ (आसनपर बैठनेके बाद) कमरसे लेकर गलेतकके भागको 'काय' नामसे कहा गया है। 'शिर' नाम ऊपरके भागका अर्थात् मस्तिष्कका है और 'ग्रीवा' नाम मस्तिष्क और कायाके बीचका है। ध्यानके समय ये काया, शिर और ग्रीवा सम, सीधे रहें अर्थात् रीढ़की जो हड्डी है, उसकी सब गाँठें सीधे भागमें रहें और उसी सीधे भागमें मस्तक तथा ग्रीवा रहे। तात्पर्य है कि काया, शिर और ग्रीवा—ये तीनों एक सूतमें अचल रहें। कारण कि इन तीनोंके आगे झुकनेसे नींद आती है, पीछे झुकनेसे जड़ता आती है और दायें-बायें झुकनेसे चञ्चलता आती है। इस वास्ते न आगे झुके, न पीछे झुके और न दायें-बायें ही झुके। दण्डकी तरह सीधा-सरल बैठा रहे।

सिद्धासन, पद्मासन आदि जितने भी आसन हैं, आरोग्यकी दृष्टिसे वे सभी ध्यानयोगमें सहायक हैं। परन्तु यहाँ भगवान्‌ने

सम्पूर्ण आसनोंकी सार चीज बतायी है—काया, शिर और ग्रीवाको सीधे समतामें रखना। इस वास्ते भगवान्‌ने बैठनेके सिद्धासन, पद्मासन आदि किसी भी आसनका नाम नहीं लिया है, किसी भी आसनका आग्रह नहीं रखा है। तात्पर्य है कि चाहे किसी भी आसन-से बैठे, पर काया, शिर और ग्रीवा एक सूतमें ही रहने चाहिये, क्योंकि इनके एक सूतमें रहनेसे मन बहुत जल्दी शान्त और स्थिर हो जाता है।

आसनपर बैठे हुए कभी नींद सताने लगे, तो उठकर थोड़ी देर इधर-उधर घूम ले। फिर स्थिरतासे बैठ जाय और यह भावना बना ले कि अब मेरेको उठना नहीं है, इधर-उधर झुकना नहीं है। केवल स्थिर और सीधे बैठकर ध्यान करना है।

'दिशश्चानवलोकयन्'—दस दिशाओंमें कहीं भी देखे नहीं; क्योंकि इधर-उधर देखनेके लिये जब ग्रीवा हिलेगी, तो ध्यान नहीं होगा, विक्षेप हो जायगा। इस वास्ते ग्रीवाको स्थिर रखे।

'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वम्'—अपनी नासिकाके अग्रभागको देखता रहे अर्थात् अपने नेत्रोंको अर्धनिमीलित (अधमुँदे) रखे। कारण कि नेत्र मीच लेनेसे नींद आनेकी सम्भावना रहती है और नेत्र खुले रखनेसे सामने दृश्य दीखेगा, उसके संस्कार पड़ेंगे तो ध्यानमें विक्षेप होनेकी सम्भावना रहती है। इस वास्ते नासिकाके अग्रभागको देखनेका तात्पर्य अर्धनिमीलित नेत्र रखनेमें ही है।

'स्थिरः'—आसनपर बैठनेके बाद शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिकी कोई भी और किसी भी प्रकारकी क्रिया न हो, केवल पत्थरकी

मूर्तिकी तरह बैठा रहे। इस प्रकार एक आसनसे कम-से-कम तीन घंटे स्थिर बैठे रहनेका अभ्यास हो जायगा, तो उस आसनपर उसकी विजय हो जायगी अर्थात् वह 'जितासन' हो जायगा।

सम्बन्ध—

बिछाने और बैठनेके आसनकी विधि बताकर अब आगेके दो श्लोकोंमें फलसहित सगुण-साकारके ध्यानका प्रकार बताते हैं।

श्लोक—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

अर्थ—

जिसका अन्तःकरण शान्त है, जो भय-रहित है और जो ब्रह्मचारि-व्रतमें स्थित है, ऐसा सावधान योगी मनका संयम करके मेरेमें चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे।

व्याख्या—

'प्रशान्तात्मा'—जिसका अन्तःकरण राग-द्वेषसे रहित है, वह 'प्रशान्तात्मा' है। जिसका सांसारिक विशेषता प्राप्त करनेका, ऋद्धि-सिद्धि आदि प्राप्त करनेका उद्देश्य न होकर केवल परमात्म-प्राप्तिका ही दृढ उद्देश्य होता है, उसके राग-द्वेष शिथिल होकर मिट जाते हैं। राग-द्वेष मिटनेपर स्वतः शान्ति आ जाती है, जो कि स्वतःसिद्ध है। तात्पर्य है कि संसारके सम्बन्धके कारण ही हर्ष, शोक, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व होते हैं और इन्हीं द्वन्द्वोंके कारण शान्ति भङ्ग होती है। जब ये द्वन्द्व मिट जाते हैं, तो स्वतःसिद्ध शान्ति

प्रकट हो जाती है। उस स्वतःसिद्ध शान्तिको प्राप्त करनेवालेका नाम ही 'प्रशान्तात्मा' है।

'विगतभीः'—शरीरको 'मैं' और 'मेरा' माननेसे ही रोगका, निन्दाका, अपमानका, मरने आदिका भय पैदा होता है। परन्तु जब मनुष्य शरीरके साथ 'मैं' और 'मेरे'-पनकी मान्यताको छोड़ देता है, तो उसमें किसी भी प्रकारका भय नहीं रहता। कारण कि उसके अन्तःकरणमें यह भाव दृढ़ हो जाता है कि इस शरीरको जीना हो तो जीयेगा ही, इसको कोई मार नहीं सकता और इस शरीरको मरना हो तो मरेगा ही, फिर इसको कोई बचा नहीं सकता। अगर यह मर भी जायगा तो बड़े आनन्दकी बात है; क्योंकि मेरी चित्तवृत्ति परमात्माकी तरफ होनेसे मेरा कल्याण तो हो ही जायगा! जब कल्याणमें कोई सन्देह ही नहीं, तो फिर भय किस बातका? इस भावसे वह सर्वथा भय-रहित हो जाता है।

'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः'—यहाँ 'ब्रह्मचारिव्रत' का तात्पर्य केवल वीर्यरक्षासे ही नहीं है। प्रत्युत ब्रह्मचारीके व्रतसे है। तात्पर्य है कि जैसे ब्रह्मचारीका जीवन गुरुकी आज्ञाके अनुसार संयत और नियत होता है, ऐसे ही ध्यानयोगीको अपना जीवन संयत और नियत रखना चाहिये। ब्रह्मचारी जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच विषयोंसे तथा मान, बड़ाई और शरीरके आरामसे दूर रहता है, ऐसे ही ध्यानयोगीको भी उपर्युक्त आठ विषयोंमेंसे किसी भी विषयका भोगबुद्धिसे, रसबुद्धिसे सेवन नहीं करना चाहिये, प्रत्युत निर्वाहबुद्धिसे ही सेवन करना चाहिये। अगर भोगबुद्धिसे

उन विषयोंका सेवन किया जायगा, तो ध्यानयोगकी सिद्धि नहीं होगी। इस वास्ते ध्यानयोगीको ब्रह्मचारिव्रतमें स्थित रहना बहुत आवश्यक है।

व्रतमें स्थित रहनेका तात्पर्य है कि किसी भी अवस्था, परिस्थिति आदिमें, किसी भी कारणसे, कभी किञ्चिन्मात्र भी सुखबुद्धिसे पदार्थोंका सेवन न हो, चाहे वह ध्यानकाल हो, चाहे व्यवहारकाल हो। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंका ब्रह्मचर्य आ जाता है।

'मन' संयम्य मच्चित्तः'—मनको संयत करके मेरेमें ही लगा दे अर्थात् चित्तको संसारकी तरफसे सर्वथा हटाकर केवल मेरे स्वरूपके चिन्तनमें, मेरी लीला, गुण, प्रभाव, महिमा आदिके चिन्तनमें ही लगा दे। तात्पर्य है कि सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिको लेकर मनमें जो कुछ संकल्प विकल्परूपसे चिन्तन होता है, उससे मनको हटाकर एक मेरेमें ही लगाता रहे।

मनमें जो कुछ चिन्तन होता है, वह प्रायः भूतकालका होता है और कुछ भविष्यकालका भी होता है तथा वर्तमानमें साधक मन परमात्मामें लगाना चाहता है। जब भूतकालकी बात याद आ जाय, तो उस समय यह समझे कि वह घटना अभी नहीं है और भविष्यकी बात याद आ जाय, तो वह भी अभी नहीं है। वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिको लेकर जितने संकल्प-विकल्प हो रहे हैं, वे उन्हीं वस्तु, व्यक्ति आदिके हो रहे हैं, जो अभी नहीं हैं। हमारा लक्ष्य परमात्माके चिन्तनका है, संसारके चिन्तनका नहीं। अतः जिस संसारका चिन्तन हो रहा है, वह संसार पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा और अभी भी नहीं है।

परन्तु जिन परमात्माका चिन्तन करना है, वे परमात्मा पहले भी थे, अब भी हैं और आगे भी रहेंगे। इस तरह सांसारिक वस्तु आदिके चिन्तनसे मनको हटाकर परमात्मामें लगा देना चाहिये। कारण कि भूतकालका कितना ही चिन्तन किया जाय, उससे फायदा तो कुछ होगा नहीं और भविष्यका चिन्तन किया जाय तो वह काम अभी कर सकेंगे नहीं तथा भूत-भविष्यका चिन्तन होता रहनेसे जो अभी ध्यान करते हैं, वह भी होगा नहीं तो सब ओरसे रीते ही रह जायँगे।

मनका संयमन करनेके उपाय—(१) मनका संयमन करनेके लिये पहले यह विचार कर ले कि मेरेको परमात्माका ही चिन्तन करना है, संसारका चिन्तन करना ही नहीं है। इस वास्ते अब मेरा मन संसारमें जा ही नहीं सकता और संसारका चिन्तन मेरे मनमें आ ही नहीं सकता। ऐसा विचार करनेपर भी अगर संसारका चिन्तन आ जाय, तो उस चिन्तनका सुख न ले। उस चिन्तनमें न राग करे, न द्वेष करे, प्रत्युत उसकी उपेक्षा कर दे। कारण कि राग-द्वेषसे सम्बन्ध जुड़ता है और उपेक्षासे सम्बन्ध विच्छेद होता है।

(२) साधकको भगवान्का चिन्तन करनेमें कठिनता इसलिये पड़ती है कि वह अपनेको संसारका मानकर भगवान्का चिन्तन करता है। इस वास्ते संसारका चिन्तन स्वतः होता है और भगवान्का चिन्तन करना पड़ता है, फिर भी चिन्तन होता नहीं। इस वास्ते साधकको चाहिये कि वह भगवान्का होकर भगवान्का

चिन्तन करे। तात्पर्य है कि 'मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं; मै शरीर-ससारका नहीं हूँ और शरीर ससार मेरे नहीं हैं'—इस तरह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे भगवान्‌का चिन्तन स्वाभाविक ही होने लगेगा, चिन्तन करना नहीं पड़ेगा।

(३) ध्यान करते समय साधकको यह ख्याल रखना चाहिये कि मनमें कोई कार्य जमा न रहे अर्थात् अमुक कार्य करना है, अमुक स्थानपर जाना है, अमुक व्यक्तिसे मिलना है, अमुक व्यक्ति मिलनेके लिये आनेवाला है, तो उसके साथ बातचीत भी करनी है आदि कार्य जमा न रखे। इन कार्योंके संकल्प ध्यानको लगने नहीं देते। इस वास्ते ध्यानमें शान्तचित्त होकर बैठना चाहिये।

(४) ध्यान करते समय कभी सकल्प विकल्प आ जायँ तो 'अड्गा बड्गा स्वाहा'—ऐसा कहकर उनको दूर कर दे अथवा श्वासको दो-तीन बार जोरसे बाहर निकालकर बाहर ही रोक दे। इससे सभी संकल्प-विकल्प मिट जाते हैं।

'युक्तः'—ध्यान करते समय सावधान रहे अर्थात् मनको संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगानेके लिये सदा सावधान रहे, जाग्रत् रहे। इसमें कभी प्रमाद, आलस्य आदि न करे। तात्पर्य है कि एकान्तमें अथवा व्यवहारमें भगवान्‌में मन लगानेकी सावधानी सदा बनी रहनी चाहिये; क्योंकि चलते फिरते, काम-धन्धा करते समय भी सावधानी रहनेसे एकान्तमें मन अच्छा लगेगा और एकान्तमें मन अच्छा लगनेसे व्यवहार करते समय भी मन लगानेमें सुविधा होगी। इस वास्ते ये दोनों एक-एकके सहायक हैं अर्थात् व्यवहारकी सावधानी एकान्तमें और एकान्तकी सावधानी व्यवहारमें सहायक है।

'आसीत मत्परः'—केवल भगवत्परायण होकर बैठे अर्थात् उद्देश्य, लक्ष्य, ध्येय केवल भगवान्‌का ही रहे। भगवान्‌के सिवाय कोई भी सांसारिक वासना, आसक्ति, कामना, स्पृहा, ममता आदि न रहे।

इसी अध्यायके दसवें श्लोकमें **'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः'** पदोंसे जो ध्यानयोगका उपक्रम किया था, उसीको यहाँ **'युक्त आसीत मत्परः'** पदोंसे कहा गया है।

श्लोक—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

अर्थ—

नियत मनवाला योगी मनको इस तरहसे सदा परमात्मामें लगाता हुआ मेरेमें सम्यक् स्थितिवाली जो निर्वाणपरमा शान्ति है, उसको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—

'योगी नियतमानसः'—जिसका मनपर अधिकार है, वह **'नियतमानसः'** है। साधक 'नियतमानस' तभी हो सकता है, जब उसके उद्देश्यमें केवल परमात्मा ही रहते हैं। परमात्माके सिवाय उसका और किसीसे सम्बन्ध नहीं रहता। कारण कि जबतक उसका सम्बन्ध संसारके साथ बना रहता है, तबतक उसका मन नियत नहीं हो सकता।

साधकसे यह एक बड़ी गलती होती है कि वह अपने-आपको गृहस्थ आदि मानता है और साधन ध्यानयोगका करता है, जिससे

ध्यानयोगकी सिद्धि जल्दी नहीं होती। इस वास्ते साधकको चाहिये कि वह अपने-आपको गृहस्थ, साधु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्ण-आश्रमका न मानकर ऐसा माने कि 'मैं तो केवल ध्यान करनेवाला हूँ। ध्यानसे परमात्माकी प्राप्ति करना ही मेरा काम है। सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि आदिको प्राप्त करना मेरा उद्देश्य ही नहीं है।' इस प्रकार अहंताका परिवर्तन होनेपर मन स्वाभाविक ही नियत हो जायगा, क्योंकि जहाँ अहंता होती है, वहाँ ही अन्तःकरण और बहिःकरणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

'युञ्जन्नेवं सदात्मानम्'—दसवें श्लोकके **'योगी युञ्जीत सततम्'** पदोंसे लेकर चौदहवें श्लोकके **'युक्त आसीत मत्परः'** पदोंतक जितना ध्यानका, मन लगानेका वर्णन हुआ है, उस सबको यहाँ **'एवम्'** पदसे लेना चाहिये।

'युञ्जन् आत्मानम्' का तात्पर्य है कि मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगाते रहना चाहिये।

'सदा' का तात्पर्य है कि प्रतिदिन नियमितरूपसे ध्यानयोगका अभ्यास होते रहना चाहिये। कभी योगका अभ्यास किया और कभी नहीं किया—ऐसा करनेसे ध्यानयोगकी सिद्धि जल्दी नहीं होती। दूसरा तात्पर्य यह है कि परमात्माकी प्राप्तिका लक्ष्य एकान्तमें अथवा व्यवहारमें निरन्तर बना रहना चाहिये।

'शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति'—भगवान्‌में जो वास्तविक स्थिति है, जिसको प्राप्त होनेपर कुछ भी प्राप्त

करना बाकी नहीं रहता, उसको यहाँ 'निर्वाणपरमा शान्ति' कहा गया है। ध्यानयोगी ऐसी निर्वाणपरमा शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

एक 'निर्विकल्प स्थिति' होती है और एक 'निर्विकल्प बोध' होता है। ध्यानयोगमें पहले निर्विकल्प स्थिति होती है, फिर उसके बाद निर्विकल्प बोध होता है। इसी निर्विकल्प बोधको यहाँ 'निर्वाणपरमा शान्ति' नामसे कहा गया है।

शान्ति दो तरहकी होती है—शान्ति और परमशान्ति। संसारके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) से शान्ति होती है और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर 'परमशान्ति' होती है। इसी परमशान्ति-को गीतामें 'नैष्ठिकी शान्ति' (५। १२), 'शश्वच्छान्ति' (९। ३१) आदि नामोंसे और यहाँ निर्वाणपरमा शान्ति नामसे कहा गया है।

सम्बन्ध—

अब आगेके दो श्लोकोंमें ध्यानयोगके लिये उपयोगी नियमोंका क्रमशः व्यतिरेक और अन्वय-रीतिसे वर्णन करते हैं।

श्लोक—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥

अर्थ—

हे अर्जुन! यह योग न तो ज्यादा खानेवालेका और न बिल्कुल न खानेवालेका तथा न ज्यादा सोनेवालेका और न बिल्कुल न सोनेवालेका ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—

'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति'—अत्यन्त खानेवालेका योग सिद्ध नहीं होता* । कारण कि अन्न अधिक खानेसे अर्थात् भूखके बिना खानेसे अथवा भूखसे अधिक खानेसे प्यास ज्यादा लगती है, जिससे पानी ज्यादा पीना पड़ता है । ज्यादा अन्न खाने और पानी पीनेसे पेट भारी हो जाता है । पेट भारी होनेसे शरीर भी बोझिल मालूम देता है । शरीरमें आलस्य छा जाता है । बार-बार पेट याद आता है । कुछ भी काम करनेका अथवा साधन, भजन, जप, ध्यान आदि करनेका मन नहीं करता । न तो सुखपूर्वक बैठा जाता है और न सुखपूर्वक लेटा ही जाता है तथा न चलने-फिरनेका ही मन करता है । अजीर्ण आदि होनेसे शरीरमें रोग पैदा हो जाते हैं । इस वास्ते अधिक खानेवाले पुरुषका योग कैसे सिद्ध हो सकता है ? नहीं हो सकता ।

'न चैकान्तमनश्नतः'—ऐसे ही बिल्कुल न खानेसे भी योग सिद्ध नहीं होता । कारण कि भोजन न करनेसे मनमें बार-बार भोजनका चिन्तन होता है । शरीरमें शक्ति कम हो जाती है । मांस-मज्जा आदि भी सूखते जाते हैं । शरीर शिथिल हो जाता है । चलना-फिरना कठिन हो जाता है । पड़े रहनेका मन करता है । जीना भारी हो जाता है । बैठ करके अभ्यास करना कठिन हो जाता है ।

* दूसरोंके भोजनकी अपेक्षा अपना भोजन मात्रामें भले ही कम हो, पर अपनी भूखकी अपेक्षा अधिक होनेसे वह भोजन अधिक ही माना जाता है ।

इससे चित्त परमात्मामें लगता ही नहीं। फिर ऐसे पुरुषका योग कैसे सिद्ध होगा ?

'न चाति स्वप्नशीलस्य'—जिसका ज्यादा सोनेका स्वभाव होता है, उसका भी योग सिद्ध नहीं होता। कारण कि ज्यादा सोनेसे स्वभाव बिगड़ जाता है अर्थात बार-बार नींद सताती है। पड़े रहनेमें सुख और बैठे रहनेमें परिश्रम मालूम देता है। ज्यादा लेटे रहनेसे गाढ़ नींद भी नहीं आती। गाढ़ नींद न आनेसे स्वप्न आते रहते हैं, संकल्प विकल्प होते रहते हैं। शरीरमें आलस्य भरा रहता है। आलस्यके कारण बैठनेमें कठिनाई होती है। इस वास्ते वह योगका अभ्यास भी नहीं कर सकता, फिर योगकी सिद्धि कैसे होगी ?

'जाग्रतो नैव चार्जुन'—हे अर्जुन ! जब अधिक सोनेसे भी योगकी सिद्धि नहीं होती, तो फिर बिल्कुल न सोनेसे योगकी सिद्धि हो ही कैसे सकती है ? क्योंकि आवश्यक नींद न लेकर अधिक जगनेसे बैठनेपर नींद सतायेगी, जिससे वह योगका अभ्यास नहीं कर सकेगा।

सात्त्विक पुरुषोंमें भी कभी सत्सङ्गका, सात्त्विक गहरी बातों-का, भगवान्‌की कथाका अथवा भक्तोंके चरित्रोंका प्रसङ्ग छिड़ जाता है, तो कथा आदि कहते हुए, सुनते हुए जब रस, आनन्द आता है, तब उनको भी नींद नहीं आती। परंतु उनका जगना और तरहका होता है अर्थात् राजसी-तामसी वृत्तिवालोंका जैसा जगना होता है, वैसा जगना सात्त्विक वृत्तिवालोंका नहीं होता।

उस जगनेमें सात्त्विक पुरुषोंको जो आनन्द मिलता है, उसमें उनको निद्राके विश्रामकी खुराक मिलती है। इस वास्ते रातो जगनेपर भी उनको और समयमें निद्रा नहीं सताती। इतना ही नहीं, उनका वह जगना भी गुणातीत होनेमें सहायता करता है। परन्तु राजसी और तामसी वृत्तिवाले जगते हैं तो उनको और समयमें निद्रा तंग करती है और रोग पैदा करती है।

ऐसे ही भक्त लोग भगवान्‌के नाम-जपमें, कीर्तनमें, भगवान्‌के विरहमें भोजन करना भूल जाते हैं, उनको भूख नहीं लगती, तो वे 'अनश्नतः' नहीं हैं। कारण कि भगवान्‌की तरफ लग जानेसे उनके द्वारा जो कुछ होता है, वह 'सत' हो जाता है।

श्लोक—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

अर्थ—

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने और जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—

'युक्ताहारविहारस्य'—भोजन सत्य और न्यायपूर्वक कमाये हुए धनका हो, सात्त्विक हो, अपवित्र न हो, भोजनका परिमाण भी उचित हो, भोजन स्वादबुद्धि और पुष्टिबुद्धिसे न किया जाय। प्रत्युत

साधनबुद्धिसे किया जाय, भोजन धर्मशास्त्र और आयुर्वेदकी दृष्टिसे किया जाय तथा उतना ही किया जाय, जितना सुगमतासे पच सके, भोजन शरीरके अनुकूल पड़े तथा वह हल्का और थोड़ी मात्रामें (खुराकसे थोड़ा कम) हो—ऐसा भोजन करनेवाला ही युक्त (यथोचित) आहार करनेवाला है ।

विहार भी यथायोग्य हो अर्थात् ज्यादा घूमना-फिरना न हो, प्रत्युत स्वास्थ्यके लिये जैसा हितकर हो, वैसा ही घूमना-फिरना हो। व्यायाम, योगासन आदि भी न तो अधिक मात्रामें किये जायँ और न उनका अभाव ही हो । ये सभी यथायोग्य हों । ऐसा करनेवालेको यहाँ युक्त विहार करनेवाला बताया गया है ।

'युक्तचेष्टस्य कर्मसु'—अपने वर्ण-आश्रमके अनुकूल जैसा देश, काल, परिस्थिति आदि प्राप्त हो जाय, उसके अनुसार शरीर-निर्वाहके लिये कर्म किये जायँ और अपनी शक्तिके अनुसार कुटुम्बियोंकी एवं समाजकी हितबुद्धिसे सेवा की जाय तथा परिस्थितिके अनुसार जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय; उसको बड़ी प्रसन्नतापूर्वक किया जाय—इस प्रकार जिसकी कर्मोंमें यथोचित्त चेष्टा है, उसका नाम यहाँ 'युक्तचेष्ट' है ।

'युक्तस्वप्नावबोधस्य'—सोना इतनी मात्रामें हो, जिससे जगनेके समय निद्रा, आलस्य न सताये । दिनमें जागता रहे और रात्रिके समय भी आरम्भमें तथा रातके अन्तिम भागमें जागता रहे । रातके मध्यभागमें सोये इसमें भी रातमें ज्यादा देरतक जागनेसे सवेरे जल्दी नींद नहीं खुलेगी । इस वास्ते जल्दी सोये और

जल्दी जागे । तात्पर्य है कि जिस सोने और जगनेसे स्वास्थ्यमें बाधा न पड़े, योगमें विघ्न न आये, ऐसे यथोचित सोना और जागना चाहिये।

यहाँ 'युक्तस्वप्नस्य' कहकर निद्रावस्थाको ही यथोचित कह देते, तो योगकी सिद्धिमें बाधा नहीं लगती थी और पूर्वश्लोकमें कहे हुए 'अधिक सोना और बिल्कुल न सोना'—इनका निषेध यहाँ 'यथोचित सोना' कहनेसे ही हो जाता, तो फिर यहाँ 'अवबोध' शब्द देनेमें क्या तात्पर्य है? यहाँ 'अवबोध' शब्द देनेका तात्पर्य है—जिसके लिये मानवजन्म मिला है, उस काममें लग जाना, भगवान्‌में लग जाना अर्थात् सांसारिक सम्बन्धसे ऊँचा उठकर साधनामें यथायोग्य समय लगाना। इसीका नाम जगना है।

यहाँ ध्यानयोगीके आहार, विहार, चेष्टा, सोना और जागना—इन पाँचोंको 'युक्त' (यथायोग्य) कहनेका तात्पर्य है कि वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति, जीविका आदिको लेकर सबके नियम एक समान नहीं चल सकते, इस वास्ते जिसके लिये जैसा उचित हो, वैसा करनेसे दुःखोंका नाश करनेवाला योग सिद्ध हो जाता है।

'योगो भवति दुःखहा'—इस प्रकार यथोचित आहार, विहार आदि करनेवाले ध्यानयोगीका दुःखोंका अत्यन्त अभाव करनेवाला योग सिद्ध हो जाता है।

योग और भोगमें विलक्षण अन्तर है। योगमें तो भोगका अत्यन्त अभाव है, पर भोगमें योगका अत्यन्त अभाव नहीं है। कारण कि भोगमें जो सुख होता है, वह सुखानुभूति भी असत्‌के

संयोगका वियोग होनेसे होती है। परन्तु मनुष्यकी उस वियोगपर दृष्टि न रहकर असत्‌के संयोगपर ही दृष्टि रहती है। इस वास्ते मनुष्य भोगके सुखको संयोगजन्य ही मान लेता है और ऐसा माननेसे ही भोगासक्ति पैदा होती है। इसलिये उसको दुःखोंका नाश करनेवाले योगका अनुभव नहीं होता। दुःखोंका नाश करनेवाला योग वही होता है, जिसमें भोगका अत्यन्त अभाव होता है।

विशेष बात

यद्यपि यह श्लोक ध्यानयोगीके लिये कहा गया है, तथापि इस श्लोकको सभी साधक अपने काममें ले सकते हैं* और इसके अनुसार अपना जीवन बनाकर अपना उद्धार कर सकते हैं। इस श्लोकमें मुख्यरूपसे चार बातें बतायी गयी हैं—युक्त आहार-विहार, युक्त कर्म, युक्त सोना और युक्त जागना। इन चार बातोंको साधक काममें कैसे लाये? इसपर विचार करना है।

---

* हितपरिमितभोजी नित्यमेकान्तसेवी
सकृदुचितहितोक्तिः स्वल्पनिद्राविहारः।
अनुनियमनशीलो यो भजत्युक्तकाले
स लभत इह शीघ्रं साधुचित्तप्रसादम्॥
(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ३७२)

'जो शरीरके लिये हितकारक और परिमित भोजन करनेवाला है, नित्य एकान्तमें रहनेके स्वभाववाला है, हितकारक और उचित वचन बोलनेवाला है, स्वल्प निद्रा और विहार करनेवाला है, शास्त्रों और गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार सब क्रियाओंको करनेवाला है अर्थात् शास्त्रने जिस समय जैसा करनेके लिये कहा है, वैसा ही करनेवाला है, वह साधक बहुत जल्दी चित्तकी स्वच्छताको प्राप्त हो जाता है।

*

हमारे पास चौबीस घण्टे हैं और हमारे सामने चार काम हैं। चौबीस घण्टोंको चारका भाग देनेसे प्रत्येक कामके लिये छः-छः घण्टे मिल जाते हैं; जैसे—(१) आहार-विहार अर्थात् भोजन करना और घूमना-फिरना—इन शारीरिक आवश्यक कार्योंके लिये छः घण्टे (२) कर्म अर्थात् खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका सम्बन्धी कार्योंके लिये छः घण्टे, (३) सोनेके लिये छः घण्टे और (४) जागने अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये जप-ध्यान, साधन-भजन, कथा-कीर्तन आदि छः घण्टे।

इन चार बातोंके भी दो-दो बातोंके दो विभाग हैं—एक विभाग 'उपार्जन' अर्थात् कमानेका है और दूसरा विभाग 'व्यय' अर्थात् खर्चेका है। युक्त कर्म और युक्त जगना—ये दो बातें उपार्जनकी हैं। युक्त आहार-विहार और युक्त सोना—ये दो बातें व्ययकी हैं। उपार्जन और व्यय—इन दो विभागोंके लिये हमारे पास दो प्रकारकी पूँजी है—(१) सांसारिक धन-धान्य और (२) आयु।
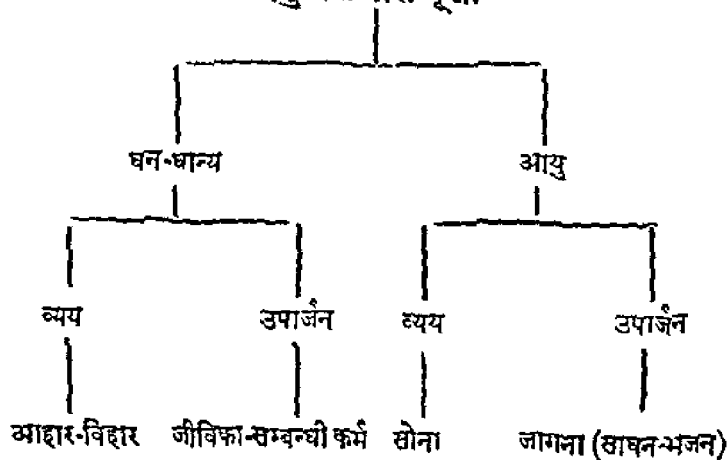
पहली पूंजी—धन-धान्यपर विचार किया जाय तो उपार्जन अधिक करना तो चल जायगा, पर उपार्जनकी अपेक्षा अधिक खर्चा करनेसे काम नहीं चलेगा। इस वास्ते आहार-विहारमें छः घण्टे न लगाकर चार घण्टेसे ही काम चला ले और खेती, व्यापार आदिमें आठ घण्टे लगा दे। तात्पर्य है कि आहार-विहारका समय कम करके जीविका-सम्बन्धी कार्योंमें ज्यादा समय लगा दे।

दूसरी पूँजी—आयुपर विचार किया जाय तो सोनेमें आयु व्यर्थ खर्च होती है। इस वास्ते सोनेमें छः घण्टे न लगाकर चार घण्टेसे ही काम चला ले और भजन-ध्यान आदिमें आठ घण्टे लगा दे। तात्पर्य है कि जितना कम सोनेसे काम चल जाय, उतना चला ले और नींदका बचा हुआ समय भगवान्‌के भजन-ध्यान आदिमें लगा दे। इस उपार्जन (साधन-भजन) की मात्रा तो दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही रहनी चाहिये; क्योंकि हम यहाँ सांसारिक धन-वैभव आदि कमानेके लिये नहीं आये हैं, प्रत्युत परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिये ही आये हैं। इस वास्ते दूसरे समयमेंसे जितना समय निकाल सकें, उतना समय निकालकर अधिक-से-अधिक भजन-ध्यान करना चाहिये।

दूसरी बात, जीविका-सम्बन्धी कर्म करते समय भी भगवान्‌को याद रखे और सोते समय भी भगवान्‌को याद रखे। सोते समय यह समझे कि अबतक चलते-फिरते, बैठकर भजन किया है, अब लेटकर भजन करना है। लेटकर भजन करते-करते नींद आ जाय तो आ जाय, पर नींदके लिये नींद नहीं लेनी है।

इस प्रकार लेटकर भगवत्स्मरण करनेका समय पूरा हो गया, तो फिर उठकर भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्याय करे और भगवत्स्मरण करते हुए ही काम-धंधेमें लग जाय, तो सब-का-सब काम-धंधा भजन हो जायगा।

सम्बन्ध—

पूर्वोक्त दो श्लोकोंमें ध्यानयोगीके लिये अन्वय-व्यतिरेक-रीतिसे खास नियम बता दिये। अब ऐसे नियमोंका पालन करते हुए स्वरूपका ध्यान करनेवाले साधककी क्या स्थिति होती है, यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

अर्थ—

वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें अपने स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाता है, उस कालमें वह योगी कहा जाता है।

व्याख्या—

[इस अध्यायके दसवेंसे तेरहवें श्लोकतक सभी ध्यानयोगी साधकोंके लिये बिछाने और बैठनेवाले आसनोंकी विधि बतायी। चौदहवें और पन्द्रहवें श्लोकमें सगुण-साकारके ध्यानका फलसहित वर्णन किया। फिर सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंमें सभी साधकोंके लिये उपयोगी नियम बताये। अब इस (अठारहवें) श्लोकसे लेकर तेईसवें श्लोकतक स्वरूपके ध्यानका फलसहित वर्णन करते हैं।]

'यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते'—अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ चित्त* अर्थात् संसारके चिन्तनसे रहित चित्त जब अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है। तात्पर्य है कि जब यह सब कुछ नहीं था, तब भी जो था और सब कुछ नहीं रहेगा, तब भी जो रहेगा तथा सबके उत्पन्न होनेके पहले भी जो था, सबका लय होनेके बाद भी जो रहेगा और अभी भी जो ज्यों-का-त्यों है, उस अपने स्वरूपमें चित्त स्थित हो जाता है। अपने स्वरूपमें जो रस है, आनन्द है, वह इस मनको कहीं भी और कभी भी नहीं मिला है। इस वास्ते वह रस, आनन्द मनको मिल जाता है, तो मन उसमें तल्लीन हो जाता है।

---

* (क) चित्तकी पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें 'मूढ़' और 'क्षिप्त' वृत्तिवाला पुरुष योगका अधिकारी होता ही नहीं। चित्त कभी स्वरूपमें लगता है और कभी नहीं लगता—ऐसा 'विक्षिप्त' वृत्तिवाला पुरुष योगका अधिकारी होता है। जब चित्तवृत्ति 'एकाग्र' हो जाती है, तब सविकल्प समाधि होती है। एकाग्रवृत्तिके बाद जब चित्तकी 'निरुद्ध' अवस्था होती है, तब निर्विकल्प समाधि होती है। इस निर्विकल्प समाधिको ही 'योग' कहा गया है।

यहाँ भगवान्‌ने 'विनियतं चित्तम्' पदोंसे एकाग्रवृत्ति अर्थात् सविकल्प समाधिका संकेत किया है।

(ख) इसी अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें जिसको 'नियतमानसः' कहा गया है, उसकी अवस्थाका वर्णन यहाँ किया गया है।

'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा'—और जब वह प्राप्त-अप्राप्त, दृष्ट-अदृष्ट, ऐहलौकिक-पारलौकिक, श्रुत-अश्रुत सम्पूर्ण पदार्थोंसे, भोगोंसे निःस्पृह हो जाता है अर्थात् उसको किसी भी पदार्थकी, भोगकी किञ्चिन्मात्र भी परवा नहीं रहती, उस समय वह 'योगी' कहा जाता है।

यहाँ 'यदा' और 'तदा' पद देनेका तात्पर्य है कि वह इतने दिनोंमें, इतने महीनोंमें, इतने वर्षोंमें योगी होगा—ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत जिस क्षण वशमें किया हुआ चित्त स्वरूपमें स्थित हो जायगा और सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जायगा, उसी क्षण वह योगी हो जायगा।

विशेष बात

इस श्लोकमें दो खास बातें बतायी हैं—एक तो चित्त स्वरूपमें स्थित हो जाय और दूसरी, सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाय। तात्पर्य है कि स्वरूपमें लगते-लगते जब मन स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है, तो फिर मनमें किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिका चिन्तन नहीं होता, प्रत्युत मन स्वरूपमें ही तल्लीन हो जाता है। इस प्रकार स्वरूपमें ही मन लगा रहनेसे ध्यानयोगी वासना, कामना, आशा, तृष्णा आदिसे सर्वथा रहित हो जाता है। इतना ही नहीं, वह जीवन-निर्वाहके लिये उपयोगी पदार्थोंकी आवश्यकतासे भी निःस्पृह हो जाता है। उसके मनमें किसी भी वस्तु आदिकी किञ्चिन्मात्र भी स्पृहा नहीं रहती, तब वह असली योगी होता है।

इसी अवस्थाका संकेत पहले चौथे श्लोकमें कर्मयोगीके लिये किया गया है कि 'जिस कालमें इन्द्रियोंके अर्थों-(भोगों-) में और क्रियाओंमें आसक्ति नहीं रहती तथा सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग कर देता है, तब वह योगारूढ़ कहा जाता है' (६ । ४)। वहाँके और यहाँके प्रसङ्गमें अन्तर इतना ही है कि वहाँ कर्मयोगी दूसरोंकी सेवाके लिये ही कर्म करता है तो उसका क्रियाओं और पदार्थोंसे सर्वथा राग हट जाता है, तब वह योगारूढ़ हो जाता है और यहाँ ध्यानयोगी चित्तको स्वरूपमें लगाता है तो उसका चित्त केवल स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है, तब वह क्रियाओं और पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाता है। तात्पर्य है कि कर्मयोगीकी कामनाएँ पहले मिटती हैं, तब वह योगारूढ़ होता है और ध्यानयोगीका चित्त पहले अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब उसकी कामनाएँ मिटती हैं । कर्मयोगीका मन संसारकी सेवामें लग जाता है और स्वयं स्वरूपमें स्थित हो जाता है और ध्यानयोगीका मन स्वयंके साथ स्वरूपमें स्थित हो जाता है ।

सम्बन्ध—

स्वरूपमें स्थिर हुए चित्तकी क्या स्थिति होती है ? इसको आगेके श्लोकमें दीपकके दृष्टान्तसे स्पष्ट बताते हैं ।

श्लोक—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

अर्थ—

जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित दीपककी लौ चेष्टारहित हो जाती है, योगका अभ्यास करते हुए यतचित्तवाले योगीके चित्तकी वैसी ही उपमा कही गयी है।

व्याख्या—

'यथा दीपो निवातस्थो······ युञ्जतो योगमात्मनः'—जैसे सर्वथा स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें रखे हुए दीपककी लौ थोड़ी भी हिलती-डुलती नहीं है, ऐसे ही जो योगका अभ्यास करता है, जिसका मन स्वरूपके चिन्तनमें लगता है और जिसने चित्तको अपने वशमें कर रखा है, उस ध्यानयोगीके चित्तके लिये भी दीपककी लौकी उपमा दी गयी है। तात्पर्य है कि उस योगीका चित्त स्वरूपमें ऐसा लगा हुआ है कि उसमें एक स्वरूपके सिवाय दूसरा कुछ भी चिन्तन नहीं होता

पूर्वश्लोकमें जिस योगीके चित्तको विनियत कहा गया है, उस वशीभूत किये हुए चित्तवाले योगीके लिये यहाँ 'यतचित्तस्य' पद आया है।

कोई भी स्थान वायुसे सर्वथा रहित नहीं होता। वायु सर्वत्र रहती है। कहींपर वायु स्पन्दनरूपसे रहती है और कहींपर निःस्पन्दनरूपसे रहती है। इस वास्ते यहाँ 'निवातस्थः' पद वायुके अभावका वाचक नहीं है, प्रत्युत स्पन्दित वायुके अभावका वाचक है।

यहाँ उपमेय चित्तको पर्वत आदि स्थिर, अचल पदार्थोंकी उपमा न देकर दीपककी लौकी ही उपमा क्यों दी गयी? दीपककी

लौ तो स्पन्दित वायुसे हिल भी सकती है, पर पर्वत कभी हिलता ही नहीं। इस वास्ते पर्वतकी ही उपमा देनी चाहिये थी? इसका उत्तर यह है कि पर्वत स्वभावसे ही स्थिर, अचल और प्रकाशहीन है, जबकि दीपककी लौ स्वभावसे चञ्चल और प्रकाशमान है। चञ्चल वस्तुको स्थिर रखनेमें विशेष कठिनता पड़ती है। चित्त भी दीपककी लौके समान स्वभावसे ही चञ्चल है, इस वास्ते चित्तको दीपककी लौकी उपमा दी गयी है।

दूसरी बात, जैसे दीपककी लौ प्रकाशमान होती है, ऐसे ही योगीके चित्तकी परमात्मतत्त्वमें जाग्रति रहती है। यह जाग्रति सुषुप्तिसे विलक्षण है। यद्यपि सुषुप्ति और समाधि—इन दोनोंमें संसारकी निवृत्ति समान रहती है, तथापि सुषुप्तिमें चित्तवृत्ति अविद्यामें लीन हो जाती है। इस वास्ते उस अवस्थामें स्वरूपका भान नहीं होता। परन्तु समाधिमें चित्तवृत्ति जाग्रत् रहती है अर्थात् चित्तमें स्वरूपकी जाग्रति रहती है। इसीलिये यहाँ दीपककी लौका दृष्टान्त दिया गया है। इसी बातको चौथे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ज्ञानदीपिते' पदसे कहा है।

सम्बन्ध—

जिस अवस्थामें पूर्णता प्राप्त होती है, उस अवस्थाका आगेके श्लोकमें स्पष्ट वर्णन करते हैं।

श्लोक—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

अर्थ—

योगका सेवन करनेसे जिस अवस्थामें निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है तथा जिस अवस्थामें स्वयं अपने-आपमें अपने-आपको देखता हुआ अपनेमें सन्तुष्ट हो जाता है।

व्याख्या—

'यत्रोपरमते चित्तं..............पश्यन्नात्मनि तुष्यति'—ध्यानयोगमें पहले 'मनको केवल स्वरूपमें ही लगाना है' यह धारणा होती है। ऐसी धारणा होनेके बाद स्वरूपके सिवाय दूसरी कोई वृत्ति पैदा हो भी जाय, तो उसको उपेक्षा करके उसको हटा देने और चित्तको केवल स्वरूपमें ही लगानेसे जब मनका प्रवाह केवल स्वरूपमें ही लग जाता है, उसको 'ध्यान' कहते हैं। ध्यानके समय ध्याता, ध्यान और ध्येय—यह त्रिपुटी रहती है अर्थात् साधक ध्यानके समय अपनेको ध्याता (ध्यान करनेवाला) मानता है, स्वरूपमें तद्रूप होनेवाली वृत्तिको ध्यान मानता है और साध्यरूप स्वरूपको ध्येय मानता है। तात्पर्य है कि जबतक इन तीनोंका अलग अलग ज्ञान रहता है, तबतक वह ध्यान कहलाता है। ध्यानमें ध्येयकी मुख्यता होनेके कारण साधक पहले अपनेमें ध्यातापना भूल जाता है। फिर ध्यानकी वृत्ति भी भूल जाता है। अन्तमें केवल ध्येय ही जाग्रत् रहता है। इसको 'समाधि' कहते हैं। यह 'संप्रज्ञात समाधि' है, जो चित्तकी एकाग्र अवस्थामें होती है। इस समाधिके दीर्घकालके अभ्याससे फिर 'असंप्रज्ञात समाधि' होती है। इन दोनों समाधियोंका भेद यह है कि जबतक ध्येय, ध्येयका नाम

और नाम-नामीका सम्बन्ध —ये तीनों चीजें रहती हैं, तबतक वह 'संप्रज्ञात समाधि' होती है। इसीको चित्तकी 'एकाग्र' अवस्था कहते हैं। परन्तु जब नामकी स्मृति न रहकर केवल नामी (ध्येय) रह जाता है, तब वह 'असंप्रज्ञात समाधि' होती है। इसीको चित्तकी 'निरुद्ध' अवस्था कहते हैं।

निरुद्ध अवस्थाकी समाधि दो तरहकी होती है—सबीज और निर्बीज। जिसमें संसारकी सूक्ष्म वासना रहती है, वह 'सबीज समाधि' कहलाती है। सूक्ष्म वासनाके कारण सबीज समाधिमें सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। ये सिद्धियाँ सांसारिक दृष्टिसे तो ऐश्वर्य हैं, पर पारमार्थिक दृष्टिसे (चेतन-तत्त्वकी प्राप्तिमें) विघ्न हैं। ध्यानयोगी जब इन सिद्धियोंको निस्तत्त्व समझकर इनसे उपराम हो जाता है, तब उसकी 'निर्बीज समाधि' होती है, जिसका यहाँ (इस श्लोकमें) 'निरुद्धम्' पदसे संकेत किया गया है।

ध्यानमें संसारके सम्बन्धसे विमुख होनेपर एक शान्ति, एक सुख मिलता है, जो कि संसारका सम्बन्ध रहनेपर कभी नहीं मिलता। संप्रज्ञात समाधिमें उससे भी विलक्षण सुखका अनुभव होता है। इस संप्रज्ञात समाधिसे भी असंप्रज्ञात समाधिमें विलक्षण सुख होता है। जब साधक निर्बीज समाधिमें पहुँचता है, तो उसमें बहुत ही विलक्षण सुख, आनन्द होता है। योगका अभ्यास करते-करते चित्त निरुद्ध अवस्था—निर्बीज समाधिसे भी उपराम हो जाता है अर्थात् योगी उस निर्बीज समाधिका भी सुख नहीं लेता, उसके सुखका भोक्ता नहीं बनता। उस समय वह

अपने स्वरूपमें अपने-आपका अनुभव करता हुआ अपनेमें ही सन्तुष्ट होता है।

'उपरमते' पदका तात्पर्य है कि चित्तका संसारसे तो प्रयोजन रहा नहीं और स्वरूपको पकड़ सकता नहीं। कारण कि चित्त प्रकृतिका कार्य होनेसे जड़ है और स्वरूप चेतन है। जड़ चित्त चेतन स्वरूपको कैसे पकड़ सकता है? नहीं पकड़ सकता। इस वास्ते वह उपराम हो जाता है। चित्तके उपराम होनेपर योगीका चित्तसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

'तुष्यति' कहनेका तात्पर्य है कि उसके सन्तोषका दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं रहता। केवल अपना स्वरूप ही उसके सन्तोषका कारण रहता है।

इस श्लोकका सार यह है कि अपने द्वारा अपनेमें ही अपने स्वरूपकी अनुभूति होती है। वह तत्त्व अपने भीतर ज्यों-का-त्यों है। केवल संसारसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण चित्तकी वृत्तियाँ संसारमें लगती हैं, जिससे उस तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती। जब ध्यानयोगके द्वारा चित्त संसारसे उपराम हो जाता है, तो योगीका चित्तसे तथा संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही उसको अपने-आपमें ही अपने स्वरूपकी अनुभूति हो जाती है।

विशेष बात

जिस तत्त्वकी प्राप्ति ध्यानयोगसे होती है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्मयोगसे होती है। परन्तु इन दोनों साधनोंमें थोड़ा अन्तर है।

ध्यानयोगमें जब साधकका चित्त समाधिके सुखसे भी उपराम हो जाता है, तब वह अपने-आपसे अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है। कर्मयोगमें जब साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग कर देता है, तब वह अपने-आपसे अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है*।

ध्यानयोगमें अपने स्वरूपमें मन लगनेसे जब मन स्वरूपमें तदाकार हो जाता है, तो समाधि लगती है। उस समाधिसे भी जब मन उपराम हो जाता है, तब योगीका चित्तसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।

कर्मयोगमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि पदार्थोंका और सम्पूर्ण क्रियाओंका प्रवाह केवल दूसरोंके हितकी तरफ हो जाता है, तो मनोगत सम्पूर्ण कामनाएँ छूट जाती हैं। कामनाओंका त्याग होते ही मनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें कहा गया कि ध्यानयोगी अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तोषका अनुभव करता है। अब उसके बाद क्या होता है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

---

* प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
(गीता २। ५५)

अर्थ—

जो सुख आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य है, उस सुख-का जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस सुखमें स्थित हुआ यह ध्यानयोगी फिर कभी तत्त्वसे विचलित नहीं होता।

व्याख्या—

'सुखमात्यन्तिकं यत्'—ध्यानयोगी अपने द्वारा अपने-आपमें जिस सुखका अनुभव करता है, प्राकृत संसारमें उस सुखसे बढ़कर दूसरा कोई सुख हो ही नहीं सकता और होना सम्भव ही नहीं है। कारण कि यह सुख तीनों गुणोंसे अतीत और स्वतःसिद्ध है। यह सम्पूर्ण सुखोंकी आखिरी हद है—'सा काष्ठा सा परा गतिः'। इसी सुखको अक्षय सुख (५।२१), अत्यन्त सुख (६।२८) और ऐकान्तिक सुख (१४।२७) कहा गया है।

इस सुखको यहाँ 'आत्यन्तिक' कहनेका तात्पर्य है कि यह सुख सात्त्विक सुखसे विलक्षण है। कारण कि सात्त्विक सुख तो परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा होता है*; परन्तु यह आत्यन्तिक सुख पैदा नहीं होता, प्रत्युत यह स्वतःसिद्ध अनुत्पन्न सुख है।

'अतीन्द्रियम्'—इस सुखको इन्द्रियोंसे अतीत बतानेका तात्पर्य है कि यह सुख राजस सुखसे विलक्षण है। राजस सुख सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति आदिके सम्बन्धसे पैदा होता है और इन्द्रियोंद्वारा भोगा जाता है। वस्तु, व्यक्ति आदि-

---

* तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

(गीता १८।३७)

का प्राप्त होना हमारे हाथकी बात नहीं है और प्राप्त होनेपर उस सुखका भोग उस विषय (वस्तु, व्यक्ति आदि) के ही अधीन होता है। इस वास्ते इस राजस सुखमें पराधीनता है। परन्तु आत्यन्तिक सुखमें पराधीनता नहीं है। कारण कि आत्यन्तिक सुख इन्द्रियोंका विषय नहीं है। इन्द्रियोंकी तो बात ही क्या है, वहाँ मनकी भी पहुँच नहीं है। यह सुख तो स्वयंके द्वारा ही अनुभवमें आता है। इस वास्ते इस सुखको अतीन्द्रिय कहा है।

'बुद्धिग्राह्यम्'—इस सुखको बुद्धिग्राह्य बतानेका तात्पर्य है कि यह सुख तामस सुखसे विलक्षण है। तामस सुख निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है। गाढ़ निद्रा-(सुषुप्ति-) में सुख तो मिलता है, पर उसमें बुद्धि लीन हो जाती है। आलस्य और प्रमादमें भी सुख होता है, पर उसमें बुद्धि ठीक-ठीक जाग्रत् नहीं रहती तथा विवेकशक्ति भी लुप्त हो जाती है। परन्तु इस आत्यन्तिक सुखमें बुद्धि लीन नहीं होती और विवेक-शक्ति भी ठीक जाग्रत् रहती है। पर इस आत्यन्तिक सुखको बुद्धि पकड़ नहीं सकती, क्योंकि प्रकृतिका कार्य बुद्धि प्रकृतिसे अतीत स्वरूपभूत सुखको पकड़ ही कैसे सकती है?

यहाँ सुखको आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य बतानेका तात्पर्य है कि यह सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे विलक्षण है।

'वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः'—ध्यानयोगी अपने द्वारा ही अपने-आपके सुखका अनुभव करता है और इस

सुखमें स्थित हुआ वह कभी किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं होता अर्थात् इस सुखकी अखण्डता निरन्तर स्वतः बनी रहती है। जैसे, मुसलमानोंने धोखेसे शिवाजीके पुत्र सभाजीको कैद कर लिया और उनसे मुस्लिम धर्म स्वीकार करनेके लिये कहा। परन्तु जब सभाजीने उसको स्वीकार नहीं किया, तो मुसलमानोंने उनकी आँखें निकाल लीं, उनकी चमड़ी खींच ली, तो भी वे अपने हिन्दूधर्मसे किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए। तात्पर्य यह निकला कि मनुष्य जबतक अपनी मान्यताको स्वयं नहीं छोड़ता, तबतक उसको दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता। जब अपनी मान्यताको भी कोई छुड़ा नहीं सकता, तो फिर जिसको वास्तविक सुख प्राप्त हो गया है, उस सुखको कोई कैसे छुड़ा सकता है और वह स्वयं भी उस सुखसे कैसे विचलित हो सकता है? नहीं हो सकता।

मनुष्य उस वास्तविक सुखसे, ज्ञानसे, आनन्दसे कभी चलायमान नहीं होता—इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य सात्त्विक सुखसे भी चलायमान होता है, उसका समाधिसे भी व्युत्थान होता है। परन्तु आत्यन्तिक सुखसे अर्थात् तत्त्वसे वह कभी विचलित और व्युत्थित नहीं होता; क्योंकि उसमें उसकी दूरी, भेद, भिन्नता मिट गयी और अब केवल वह-ही-वह रह गया। अब वह विचलित और व्युत्थित कैसे हो? विचलित और व्युत्थित तभी होता है, जब जड़ताका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध रहता है। जबतक जड़ताका सम्बन्ध रहता है, तबतक वह एकरस नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृति सदा ही क्रियाशील रहती है।

सम्बन्ध—

ध्यानयोगी तत्त्वसे चलायमान क्यों नहीं होता? इसका कारण आगेके श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

अर्थ—

जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।

व्याख्या—

'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'—मनुष्यको जो सुख प्राप्त है, उससे अधिक सुख दीखता है तो उसके लोभमें आकर वह विचलित हो जाता है। जैसे, किसीको एक घण्टेके सौ रुपये मिलते हैं। अगर उतने ही समयमें दूसरी जगह हजार रुपये मिलते हों, तो वह सौ रुपयोंकी स्थितिसे विचलित हो जायगा और हजार रुपयोंकी स्थितिमें चला जायगा। निद्रा, आलस्य और प्रमादके तामस सुखके प्राप्त होनेपर भी जब विषयजन्य सुख ज्यादा अच्छा लगता है, उसमें अधिक सुख मालूम देता है, तो मनुष्य तामस सुखको छोड़कर विषयजन्य सुखकी तरफ लपककर चला जाता है। ऐसे ही जब वह विषयजन्य सुखसे ऊँचा उठता है, तो सात्त्विक सुखके लिये विचलित हो जाता है और जब सात्त्विक

सुखसे भी ऊँचा उठता है, तो आत्यन्तिक सुखके लिये विचलित हो जाता है। परन्तु जब आत्यन्तिक सुख प्राप्त हो जाता है, तो फिर वह उससे विचलित नहीं होता; क्योंकि आत्यन्तिक सुखसे बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है, कोई लाभ नहीं है। आत्यन्तिक सुखमें सुखकी हद हो जाती है। ध्यानयोगीको जब ऐसा सुख मिल जाता है, तो फिर वह इस सुखसे विचलित हो ही कैसे सकता है?

'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'—विचलित होनेका दूसरा कारण है कि लाभ तो अधिक होता हो, पर साथमें महान् दुःख हो, तो मनुष्य उस लाभसे विचलित हो जाता है। जैसे, हजार रुपये मिलते हों, पर साथमें प्राणोंका भी खतरा हो, तो मनुष्य हजार रुपयोंसे विचलित हो जाता है। ऐसे ही मनुष्य जिस किसी स्थितिमें स्थित होता है, वहाँ कोई भयंकर आफत आ जाती है, तो मनुष्य उस स्थितिको छोड़ देता है। परन्तु यहाँ भगवान् कहते हैं कि आत्यन्तिक सुखमें स्थित होनेपर योगी बड़े-से-बड़े दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता। जैसे, किसी कारणसे उसके शरीरको फाँसी दे दी जाय, शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, आपसमें भिड़ते दो पहाड़ोंके बीचमें शरीर आ जाय, जीते-जी शरीरकी चमड़ी उतारी जाय—इस तरहके गुरुतर, महान् भयंकर दुःखोंके एक साथ आनेपर भी वह विचलित नहीं होता।

वह विचलित क्यों नहीं किया जा सकता? कारण कि जितने भी दुःख आते हैं, वे सभी प्रकृतिके राज्यमें अर्थात्

शरीर, इन्द्रियाँ, मन-बुद्धिमें ही आते हैं, जबकि आत्यन्तिक सुख, स्वरूप-बोध प्रकृतिसे अतीत तत्त्व है। परन्तु जब यह पुरुष प्रकृतिस्थ हो जाता है अर्थात् शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तो वह प्रकृतिजन्य अनुकूल-परिस्थितिमें अपनेको सुखी-दुःखी मानने लग जाता है—'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्' (गीता १३। २१)। जब वह प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूपभूत सुखका अनुभव कर लेता है, उसमें स्थित हो जाता है, तो फिर यह प्राकृतिक दुःख वहाँतक पहुँच ही नहीं सकता, उसका स्पर्श ही नहीं कर सकता। इस वास्ते शरीरमें कितनी ही आफत आनेपर भी वह अपनी स्थितिसे विचलित नहीं किया जा सकता।

सम्बन्ध—

जिस सुखकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक लाभकी सम्भावना नहीं रहती और जिसमें स्थित होनेपर बड़ा भारी दुःख भी विचलित नहीं करता, ऐसे सुखकी प्राप्तिके लिये अगले श्लोकमें प्रेरणा करते हैं।

श्लोक—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

अर्थ—

जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको योग नामसे जानना चाहिये। उस योगका अभ्यास न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना चाहिये।

व्याख्या—

'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'—जिसके साथ हमारा सम्बन्ध है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव ही नहीं, ऐसे दुःखरूप संसार—शरीरके साथ सम्बन्ध मान लिया, यही 'दुःखसंयोग' है। यह दुःखसंयोग 'योग' नहीं है। अगर यह योग होता अर्थात् संसारके साथ हमारा नित्य-सम्बन्ध होता, तो इस दुःखसंयोगका कभी वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) नहीं होता। परन्तु बोध होनेपर इसका वियोग हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि दुःखसंयोग केवल हमारा माना हुआ है, हमारा बनाया हुआ है, स्वाभाविक नहीं है। इससे कितनी ही दृढ़तासे संयोग मान लें और कितने ही लम्बे कालतक संयोग मान लें, तो भी इसका कभी संयोग नहीं हो सकता। इस वास्ते हम इस माने हुए आगन्तुक दुःखसंयोगका वियोग कर सकते हैं। इस दुःखसंयोग (शरीर-संसार) का वियोग करते ही स्वाभाविक 'योग' की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् स्वरूपके साथ हमारा जो नित्ययोग है, उसकी हमें अनुभूति हो जाती है। स्वरूपके साथ नित्ययोगको ही यहाँ 'योग' समझना चाहिये।

यहाँ दुःखरूप संसारके सर्वथा वियोगको 'योग' कहा गया है। इससे यह असर पड़ता है कि अपने स्वरूपके साथ पहले हमारा वियोग था, अब योग हो गया। परन्तु ऐसी बात नहीं है। स्वरूपके साथ हमारा नित्ययोग है। दुःखरूप संसारके संयोगका तो आरम्भ और अन्त होता है तथा संयोगकालमें भी संयोगका

आरम्भ और अन्त होता रहता है। परन्तु इस नित्ययोगका कभी आरम्भ और अन्त नहीं होता। कारण कि यह योग मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थोंसे नहीं होता, प्रत्युत इनके सम्बन्ध-विच्छेदसे होता है। यह नित्ययोग स्वतःसिद्ध है। इसमें सबकी स्वाभाविक स्थिति है। परन्तु अनित्य संसारसे सम्बन्ध मानते रहनेके कारण इस नित्ययोगकी विस्मृति हो गयी है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्ययोगकी स्मृति हो जाती है। इसीको अर्जुनने अठारहवें अध्यायके तिहत्तरवें श्लोकमें **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** कहा है। इस वास्ते यह योग नया नहीं हुआ है, प्रत्युत जो नित्ययोग है, उसीकी अनुभूति हुई है।

भगवान्‌ने यहाँ **'योगसंज्ञितम्'** पद देकर दुःखके संयोगके वियोगका नाम 'योग' बताया है और दूसरे अध्यायमें **'समत्वं योग उच्यते'** कहकर समताको ही 'योग' बताया है। यहाँ साध्यरूप समताका वर्णन है और वहाँ (२ । ४८ में) साधनरूप समताका वर्णन है। ये दोनों बातें तत्त्वतः एक ही हैं; क्योंकि साधनरूप समता ही अन्तमें साध्यरूप समतामें परिणत हो जाती है।

पतञ्जलिमहाराजने चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (योगदर्शन १ । २) और चित्त-वृत्तियोंका निरोध होनेपर द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति बतायी है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१ । ३)। परन्तु गीतामें भगवान्‌ने **'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** पदोंसे द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थितिको ही 'योग' कहा है, जो स्वतःसिद्ध है।

यहाँ 'तम्' कहनेका क्या तात्पर्य है ? अठारहवें श्लोकमें योगीके लक्षण बताकर उन्नीसवें श्लोकमें दीपकके दृष्टान्तसे उसके अन्तःकरणकी स्थितिका वर्णन किया गया । उस ध्यानयोगीका चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है, उसका संकेत बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'यत्र' पदसे किया और जब उस योगीकी स्थिति परमात्मामें हो जाती है, उसका संकेत श्लोकके उत्तरार्धमें 'यत्र' पदसे किया । इक्कीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'यत्' पदसे उस योगीके आत्यन्तिक सुखकी महिमा कही और उत्तरार्धमें 'यत्र' पदसे उसकी अवस्थाका संकेत किया । बाईसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'यम्' पदसे उस योगीके लाभका वर्णन किया और उत्तरार्धमें उसी लाभको 'यस्मिन्' पदसे कहा । इस तरह बीसवें श्लोकसे बाईसवें श्लोकतक छः बार 'यत्'* शब्दका प्रयोग करके योगीकी जो विलक्षण स्थिति बतायी गयी है, उसीका यहाँ 'तम्' पदसे संकेत करके उसकी महिमा कही गयी है ।

'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा'—जिसमें दुःखोंके संयोगका अत्यन्त वियोग है, ऐसा जो योग है, उसको निश्चयपूर्वक करना चाहिये । तात्पर्य है कि नित्ययोगका अनुभव करनेके लिये सबसे पहले साधकको अपनी बुद्धिको एक निश्चयवाली बनाना चाहिये अर्थात् 'मेरेको तो योगकी ही प्राप्ति करनी है'—ऐसा एक निश्चय करना चाहिये । ऐसा निश्चय करनेपर संसारका कितना ही प्रलोभन आ जाय, कितना ही भयंकर कष्ट आ जाय, तो भी उस निश्चयको नहीं छोड़ना चाहिये ।

* यत्र, यम्, यस्मिन्—ये तीनों 'यत्' शब्दसे ही बने हुए हैं ।

'अनिर्विण्णचेतसा' का तात्पर्य है कि समय बहुत लग गया, पुरुषार्थ बहुत किया, पर सिद्धि नहीं हुई ! इसकी सिद्धि कब होगी ? कैसे होगी ?—इस तरह कभी उकताये नहीं। साधकका भाव ऐसा रहे कि चाहे कितने ही वर्ष लग जायँ, कितने ही जन्म लग जायँ, कितने ही भयंकर-से-भयंकर दुःख आ जायँ, तो भी मेरेको तत्त्वको प्राप्त करना ही है। साधकके मनमें स्वतः स्वाभाविक ऐसा विचार आना चाहिये कि मेरे अनेक जन्म हुए; पर वे सब-के-सब निरर्थक चले गये; उनसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। अनेक बार नरकोंके कष्ट भोगे, पर उनको भोगनेसे भी कुछ नहीं मिला अर्थात् केवल पूर्वके पाप नष्ट हुए, पर परमात्मा नहीं मिले। अब अगर इस जन्मका सारा-का-सारा समय, आयु और पुरुषार्थ परमात्माकी प्राप्तिमें लग जाय, तो कितनी बढ़िया बात है !

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें जिस योगकी प्राप्तिके लिये प्रेरणा की थी, उसी योगकी प्राप्तिके लिये अब आगेके श्लोकमें परमात्माके निर्गुण-निराकार स्वरूपके ध्यानका प्रकार बताते हैं।

श्लोक—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

अर्थ—

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके और मनसे ही इन्द्रिय-समूहको सभी ओरसे हटाकर।

व्याख्या—

[जो स्थिति कर्मफलका त्याग करनेवाले कर्मयोगीकी होती है (६ । १–९), वही स्थिति सगुण साकार भगवान्‌का ध्यान करनेवालेकी (६ । १४-१५) तथा अपने स्वरूपका ध्यान करनेवाले ध्यानयोगीकी भी होती है (६ । १८–२३) । अब निर्गुण-निराकारका ध्यान करनेवालेकी भी वही स्थिति होती है—यह बतानेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण कहते हैं ।]

'संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः'—सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिको लेकर मनमें जो तरह-तरहकी स्फुरणाएँ होती हैं, उन स्फुरणाओं-मेंसे जिस स्फुरणामें प्रियता, सुन्दरता और आवश्यकता दीखती है, वह स्फुरणा 'संकल्प' का रूप धारण कर लेती है । ऐसे ही जिस स्फुरणामें 'ये वस्तु, व्यक्ति आदि बड़े खराब हैं, ये हमारे उपयोगी नहीं हैं'—ऐसा विपरीत भाव पैदा हो जाता है, वह स्फुरणा भी 'संकल्प' बन जाती है । संकल्पसे 'ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये'—यह 'कामना' उत्पन्न होती है । इस प्रकार संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली कामनाओंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

यहाँ 'कामान्' पद बहुवचनमें आया है, फिर भी इसके साथ 'सर्वान्' पद देनेका तात्पर्य है कि कोई भी और किसी भी तरहकी कामना नहीं रहनी चाहिये ।

'अशेषतः' पदका तात्पर्य है कि किसी भी कामनाका बीज (सूक्ष्म संस्कार) भी नहीं रहना चाहिये। कारण कि वृक्षके एक बीजसे ही मीलोंतकका जंगल पैदा हो सकता है। इस वास्ते बीजरूप कामनाका भी त्याग होना चाहिये।

'मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः'—जिन इन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंका अनुभव होता है, भोग होता है, उन इन्द्रियोंके समूहका मनके द्वारा अच्छी तरह-से नियमन कर ले अर्थात् मनसे इन्द्रियोंको उनके अपने-अपने विषयोंसे हटा ले।

'समन्ततः' कहनेका तात्पर्य है कि मनसे भी शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका चिन्तन न हो और सांसारिक मान, बड़ाई, आराम आदिकी तरफ किञ्चिन्मात्र भी खिंचाव न हो।

तात्पर्य है कि ध्यानयोगीको इन्द्रियों और अन्तःकरणके द्वारा प्राकृत पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिये।

सम्बन्ध—

कामनाओंका त्याग और मनसे इन्द्रियोंका संयम करनेपर क्या करना चाहिये—इस बातको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

अर्थ—

धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा संसारसे धीरे-धीरे उपराम हो जाय

और परमात्मस्वरूपमें मन- (बुद्धि)को सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे ।

व्याख्या—

'बुद्ध्या धृतिगृहीतया'—साधन करते-करते प्रायः साधकोंको उकताहट होती है, निराशा होती है कि ध्यान लगाते, विचार करते इतने दिन हो गये, पर तत्त्वप्राप्ति नहीं हुई, तो अब क्या होगी ? कैसे होगी ? इस बातको लेकर भगवान् ध्यानयोगके साधक-को सावधान करते हैं कि उसको ध्यानयोगका अभ्यास करते हुए सिद्धि प्राप्त न हो, तो भी उकताना नहीं चाहिये, प्रत्युत धैर्य रखना चाहिये । जैसे सिद्धि प्राप्त होनेपर, सफलता होनेपर धैर्य रहता है, विफलता होनेपर भी वैसा ही धैर्य रहना चाहिये कि वर्ष-के-वर्ष बीत जायँ, शरीर चला जाय, तो भी परवाह नहीं, पर तत्त्वको तो प्राप्त करना ही है* । कारण कि इससे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा काम है नहीं । इसलिये इसको समाप्त करके आगे क्या काम करना है ? अगर इससे भी बढ़कर कोई काम है तो इसको छोड़ो और उस कामको अभी करो !—इस प्रकार बुद्धिको वशमें कर ले अर्थात् बुद्धिमें मान, बड़ाई, आराम आदिको लेकर जो संसारका महत्त्व पड़ा है, उस महत्त्वको हटा दे । तात्पर्य है कि पूर्वश्लोकमें

---

* इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयञ्च यातु ।
अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति ॥

'भले ही इस आसनपर मेरा शरीर सूख जायँ, चमड़ी, मांस और हड्डियाँतक नष्ट हो जायँ; किन्तु बहुकल्पदुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना इस आसनसे यह शरीर हिलेगा नहीं ।'

जिन विषयोंका त्याग करनेके लिये कहा गया है, धैर्ययुक्त बुद्धिसे उन विषयोंसे उपराम हो जाय।

'शनैः शनैरुपरमेत्'—उपराम होनेमें जल्दबाजी न करे, किन्तु धीरे-धीरे उपेक्षा करते-करते विषयोंसे उदासीन हो जाय और उदासीन होनेपर उनसे बिल्कुल ही उपराम हो जाय।

कामनाओंका त्याग और मनसे इन्द्रिय-समूहका संयमन करनेके बाद भी यहाँ जो उपराम होनेकी बात बतायी है, उसका तात्पर्य है कि किसी त्याज्य वस्तुका त्याग करनेपर भी उस त्याज्य वस्तुके साथ आंशिक द्वेषका भाव रह सकता है। उस द्वेष-भावको हटानेके लिये यहाँ उपराम होनेकी बात कही गयी है। तात्पर्य है कि संकल्पोंके साथ न राग करे, न द्वेष करे; किन्तु उनसे सर्वथा उपराम हो जाय।

यहाँ उपराम होनेकी बात इसलिये कही गयी है कि परमात्मतत्त्व मनके कब्जेमें नहीं आता; क्योंकि मन प्रकृतिका कार्य होनेसे प्रकृतिको भी नहीं पकड़ सकता, तो फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्मतत्त्वको पकड़ ही कैसे सकता है? अर्थात् परमात्माका चिन्तन करते-करते मन परमात्माको पकड़ ले—यह उसके हाथकी बात नहीं है। जिस परमात्माकी शक्तिसे मन अपना कार्य करता है, उसको मन कैसे पकड़ सकता है?—'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' (केन० १।५)। जैसे जिस सूर्यके प्रकाशसे ही दीपक, बिजली आदि प्रकाशित होते हैं, वे दीपक आदि सूर्यको कैसे प्रकाशित कर सकते हैं? कारण कि उनमें प्रकाश

तो सूर्यसे ही आता है। ऐसे ही मन, बुद्धि आदिमें जो कुछ शक्ति है, वह उस परमात्मासे ही आती है। इस वास्ते वे मन, बुद्धि आदि उस परमात्माको कैसे पकड़ सकते हैं ? नहीं पकड़ सकते।

दूसरी बात, संसारकी तरफ चलनेसे सुख नहीं पाया है, केवल दुःख-ही-दुःख पाया है। इस वास्ते संसारके चिन्तनसे प्रयोजन नहीं रहा, तो अब क्या करें ? उससे उपराम हो जायँ।

'आत्मसंस्थं मनः* कृत्वा'—सब जगह एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही परिपूर्ण है। संकल्पोंमें पहले और उनके अन्तमें (पीछे) वही परमात्मा है। संकल्पोंमें भी आधार और प्रकाशकरूपसे एक परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। उन संकल्पोंमें और कोई सत्ता पैदा नहीं हुई है, किन्तु उनमें सत्तारूपसे वह परमात्मा ही है। ऐसा बुद्धिका दृढ़ निश्चय, निर्णय रहे। मनमें कोई तरंग पैदा हो भी जाय तो उस तरंगको परमात्माका ही स्वरूप माने।

दूसरा भाव यह है कि परमात्मा देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सबमें परिपूर्ण है। ये देश, काल आदि तो उत्पन्न होते हैं और मिटते हैं; परन्तु परमात्मतत्त्व बनता-बिगड़ता नहीं है। वह तो सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उस परमात्मामें मनको स्थिर करके अर्थात् सब जगह एक परमात्मा ही है, उस परमात्माके सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं—ऐसा पक्का निश्चय करके कुछ भी चिन्तन न करे।

* यहाँ 'मनः' शब्द अन्तःकरणका वाचक है।

'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्''—संसारका चिन्तन न करे—यह बात तो पहले ही आ गयी। अब 'परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है' —ऐसा चिन्तन भी न करे कारण कि जब मनको परमात्मामें स्थापन कर दिया, तो अब चिन्तन करनेसे सविकल्प वृत्ति हो जायगी अर्थात् मनके साथ सम्बन्ध बना रहेगा, जिससे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा। अगर 'हमारी ऐसी स्थिति बनी रहे, —ऐसा चिन्तन करेंगे, तो परिच्छिन्नता बनी रहेगी अर्थात् चित्तकी और चिन्तन करनेवालेकी सत्ता बनी रहेगी। इस वास्ते सब जगह एक परमात्मा ही परिपूर्ण है'—ऐसा दृढ़ निश्चय करनेके बाद किसी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी चिन्तन न करे। इस प्रकार उपराम होनेसे स्वतःसिद्ध स्वरूपका अनुभव हो जायगा, जिसका वर्णन पहले बाईसवें श्लोकमें हुआ है।

ध्यान-सम्बन्धी मार्मिक बात

सबसे मुख्य बात यह है कि परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है। सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें और सम्पूर्ण क्रियाओंमें परमात्मा सब रूपोंसे सदा ज्यों-का-त्यों विराजमान है। उस परमात्माके सिवाय जितना भी प्रकृतिका कार्य है, वह सब-का सब परिवर्तनशील है। परन्तु परमात्मतत्त्वमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ, न होगा और न हो ही सकता है। उस परमात्माका ध्यान ऐसे किया जाय कि जैसे कोई मनुष्य समुद्रमें गहरा उतर जाय, तो जहाँतक दृष्टि जाती है, वहाँतक जल-ही-जल दीखता है। नीचे देखो तो भी जल

है, ऊपर देखो तो भी जल है, चारों तरफ जल-ही-जल परिपूर्ण है । इस तरह जहाँ स्वय अपने-आपको एक जगह मानता है, उसके भीतर भी परमात्मा है, बाहर भी परमात्मा है, ऊपर भी परमात्मा है, नीचे भी परमात्मा है, चारो तरफ परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण है। शरीरके भी कण-कणमें वह परमात्मा है। उस परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना ही मनुष्यमात्रका ध्येय है, और वह नित्य-निरन्तर प्राप्त है। उस परमात्मतत्त्वसे कोई कभी दूर हो सकता ही नहीं। किसी भी अवस्थामें उससे कोई अलग नहीं हो सकता। केवल अपनी दृष्टि विनाशी पदार्थोंकी तरफ रहनेसे वह सदा परिपूर्ण, निर्विकार, सम, शान्त रहनेवाला परमात्मतत्त्व दीखता नहीं।

अगर उस परमात्माकी तरफ दृष्टि, लक्ष्य हो जाय कि वह सब जगह ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है, तो स्वत सिद्ध ध्यान हो जायगा। ध्यान करना नहीं पडेगा। जैसे, हम सब पृथ्वीपर रहते हैं, तो हमारे भीतर बाहर, ऊपर और चारों तरफ आकाश-ही-आकाश है, पोलाहट-ही-पोलाहट है, परन्तु उसकी तरफ हमारा लक्ष्य नहीं रहता। अगर लक्ष्य हो जाय, तो हम निरन्तर आकाशमें ही रहते हैं। आकाशमें ही चलते हैं, फिरते हैं, खाते हैं, पीते हैं, सोते हैं, जगते हैं। आकाशमें ही हम सब काम कर रहे हैं। परन्तु आकाशकी तरफ ध्यान न होनेसे इसका पता नहीं लगता। अगर उस तरफ ध्यान जाय कि आकाश है, उसमें बादल होते हैं, वर्षा होती है, उसमें सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि हैं, तो आकाशका ख्याल होता है, अन्यथा नहीं होता। आकाशका ख्याल न होनेपर भी हमारी सब

क्रियाएँ आकाशमें ही होती हैं। ऐसे ही उस परमात्मतत्त्वकी तरफ ख्याल न होनेपर भी हमारी सम्पूर्ण क्रियाएँ उस परमात्मतत्त्वमें ही हो रही हैं। इस वास्ते गीताने कहा कि—'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया' अर्थात् जिस बुद्धिमें धीरज है। ऐसी बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे उपराम हो जाय। संसारकी कोई भी बात मनमें आये, तो उससे उपराम हो जाय। साधककी भूल यह होती है कि जब वह परमात्माका ध्यान करने बैठता है, तो उस समय सांसारिक वस्तुकी याद आनेपर वह उसका विरोध करने लगता है। विरोध करनेसे भी वस्तुका अपने साथ सम्बन्ध हो जाता है और उसमें राग करनेसे भी सम्बन्ध हो जाता है। इस वास्ते न तो उसका विरोध करें और न उसमें राग करें। उसकी उपेक्षा करें, उससे उदासीन हो जायँ, बेपरवाह हो जायँ ? संसारकी याद आ गयी तो आ गयी, नहीं आयी तो नहीं आयी—इस बेपरवाहीसे संसारके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा। इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि उससे उदासीन ही नहीं, उपराम हो जाये—'शनैः शनैः उपरमेत्'।

उत्पन्न होनेवाली चीज नष्ट होनेवाली होती है—यह नियम है। अतः संसारका कितना ही संकल्प-विकल्प हो जाय, वह सब नष्ट हो रहा है। इसलिये उसको रखनेकी चेष्टा करना भी गलती है और नाश करनेका उद्योग करना भी गलती है। संसारमें बहुत-सी चीजें उत्पन्न और नष्ट होती हैं, पर उनका पाप और पुण्य हमें नहीं लगता; क्योंकि उनसे हमारा सम्बन्ध नहीं है। ऐसे ही मनमें संकल्प-विकल्प आ जाय, संसारका चिन्तन हो जाय,

तो उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। न तो याद आनेवाली वस्तुके साथ सम्बन्ध है और न जिसमें वस्तुकी याद आयी, उस मनके साथ ही सम्बन्ध है। हमारा सम्बन्ध तो सब जगह परिपूर्ण परमात्मासे है। इस वास्ते उत्पन्न और नष्ट होनेवाले संकल्प-विकल्पसे क्या तो राग करें और क्या उनसे द्वेष करें ! यह तो उत्पत्ति और विनाशका एक प्रवाह है। इससे उपराम हो जाय, विमुख हो जाय, इसकी कुछ भी परवाह न करे।

एक परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण है। जब हम अपना एक व्यक्तित्व पकड़ लेते हैं, तब 'मैं हूँ' ऐसा दीखने लगता है। यह व्यक्तित्व, 'मैं'-पन भी जिसके अन्तर्गत है, ऐसा वह अपार, सम, शान्त, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मा है। जैसे, सम्पूर्ण पदार्थ, क्रियाएँ आदि एक प्रकाशके अन्तर्गत हैं। उस प्रकाशका सम्बन्ध है तो मात्र वस्तु, क्रिया, व्यक्ति आदिके साथ और नहीं है तो किसीके भी साथ सम्बन्ध नहीं है। प्रकाश अपनी जगह ज्यों-का-त्यों स्थित है। उसमें कई वस्तुएँ आती-जाती रहती हैं, कई क्रियाएँ होती रहती हैं; किन्तु प्रकाशमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता। ऐसे ही प्रकाशस्वरूप परमात्माके साथ किसी भी वस्तु, क्रिया आदिका कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध है तो सम्पूर्णके साथ सम्बन्ध है, नहीं तो किसीके साथ भी सम्बन्ध नहीं है। ये वस्तु, क्रिया आदि सब उत्पत्ति-विनाशवाली हैं और वह परमात्मा अनुत्पन्न तत्त्व है। उस परमात्मामें स्थित होकर कुछ भी चिन्तन न करे।

एक चिन्तन 'करते' हैं और एक चिन्तन 'होता' है। चिन्तन करे नहीं और आपसे-आप कोई चिन्तन हो जाय तो उसके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, तटस्थ रहे। वास्तवमें हम तटस्थ ही हैं; क्योंकि संकल्प-विकल्प तो उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर हम रहते हैं। इसलिये रहनेवाले स्वरूपमें ही रहें और संकल्प-विकल्पकी उपेक्षा कर दें, तो हमारेपर वह (संकल्प-विकल्प) लागू नहीं होगा। साधक एक गलती करता है कि जब उसको संसार याद आता है तो वह उससे द्वेष करता है कि इसको हटाओ, इसको मिटाओ। ऐसा करनेसे संसारके साथ विशेष सम्बन्ध जुड़ जाता है। इस वास्ते उसको हटानेका कोई उद्योग न करे, प्रत्युत ऐसा विचार करे कि जो संकल्प-विकल्प होते हैं, उनमें भी वह परमात्मतत्त्व ओतप्रोत है। जैसे जलमें बर्फका ढेला डाल दें, तो बर्फ स्वयं भी जल है, उसके बाहर भी जल है। ऐसे ही संकल्प-विकल्प कुछ भी आये, वह परमात्माके ही अन्तर्गत है और संकल्प-विकल्पके भी अन्तर्गत परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण हैं। जैसे समुद्रमें बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं। एक लहरके बाद दूसरी लहर आती है। उन लहरोंमें भी जल-ही-जल है। देखनेमें लहर अलग दीखती हैं, पर जलके सिवाय लहर कुछ नहीं है। ऐसे ही संकल्प-विकल्पमें परमात्मतत्त्वके सिवाय कोई तत्त्व नहीं है, कोई वस्तु नहीं है।

अभी कोई पुरानी घटना याद आ गयी, तो वह घटना पहले हुई थी। अब वह घटना नहीं है। मनुष्य जबर्दस्ती उस घटनाको याद करके घबरा जाता है कि क्या करूँ, मन नहीं लगता! वास्तवमें जब परमात्माका ध्यान करते हैं, तो उस समय अनेक तरहकी

पुरानी बातोंकी याद, पुराने संस्कार नष्ट होनेके लिये प्रकट होते हैं। परन्तु साधक इस बातको बिना समझे उनको सत्ता देकर और मजबूत बना लेता है। इस वास्ते उनकी उपेक्षा कर दे। उनको न अच्छा समझे और न बुरा समझे, तो वे जैसे उत्पन्न हुए, वैसे ही नष्ट हो जायँगे। परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध है। हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं। सब जगह परिपूर्ण उस परमात्मामें हमारी स्थिति सब समयमें है—ऐसा मानकर चुप बैठ जाय। अपनी तरफसे कुछ भी चिन्तन न करे। आपसे आप चिन्तन हो जाय तो उससे सम्बन्ध न जोड़े। फिर वृत्तियाँ आपसे आप शान्त हो जायँगी और परमात्माका ध्यान स्वतः होगा। कारण कि वृत्तियाँ आने-जानेवाली हैं और परमात्मा सदा रहनेवाले हैं। जो स्वतःसिद्ध है, उसमें करना क्या पड़ेगा? करना कुछ है ही नहीं। साधक ऐसा मान लेता है कि मैं ध्यान करता हूँ, चिन्तन करता हूँ—यह गलती है। जब सब जगह एक परमात्मा ही हैं तो क्या चिन्तन करे, क्या ध्यान करे? समुद्रमें लहरें होती हैं, पर जलतत्त्वमें न लहरें हैं, न समुद्र है। ऐसे ही परमात्मतत्त्वमें न संसार है, न आकृति है, न आना-जाना है। वह परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है, सम है, शान्त है, निर्विकार है, स्वतःसिद्ध है। उसका चिन्तन करना नहीं पड़ता। उसका चिन्तन क्या करें? उसमें तो हमारी स्थिति स्वतः है, हर समय है। व्यवहार करते हुए भी उस परमात्मासे हम अलग नहीं होते, प्रत्युत निरन्तर उसमें रहते हैं। व्यवहारवाली वस्तुओंको आदर देते हैं, महत्त्व देते हैं, तब विक्षेप होता है। एकान्तमें बैठे हैं और

कोई बात याद आ जाती है तो विक्षेप हो जाता है। वास्तवमें विक्षेप उस बातसे नहीं होता। उसको सत्ता दे देते हैं, महत्ता दे देते हैं, उससे विक्षेप होता है।

जैसे आकाशमें बादल आते हैं और शान्त हो जाते हैं, ऐसे ही मनमें कई स्फुरणाएँ आती हैं और शान्त हो जाती हैं। आकाशमें कितने ही बादल आयें और चले जायँ, पर आकाशमें कुछ परिवर्तन नहीं होता; वह ज्यों-का-त्यों रहता है। ऐसे ही ध्यानके समय कुछ याद आये अथवा न आये, परमात्मा ज्यों-के-त्यों परिपूर्ण रहते हैं। कुछ याद आये तो उसमें भी परमात्मा हैं और कुछ याद न आये तो उसमें भी परमात्मा हैं। देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें जो कुछ आ जाय, उन सबके बाहर भी परमात्मा हैं और सबके भीतर भी परमात्मा हैं। चर और अचर जो कुछ है, वह भी परमात्मा ही हैं। दूर-से-दूर भी परमात्मा हैं, नजदीक-से-नजदीक भी परमात्मा हैं। परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वे बुद्धिके अन्तर्गत नहीं आते*। ऐसे वे परमात्मा सद्‌घन, चिद्‌घन, आनन्दघन हैं। सब जगह पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, सम आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, अटल आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द है!

एकान्तमें ध्यान करनेके सिवाय दूसरे समय कार्य करते हुए भी ऐसा समझे कि परमात्मा सबमें परिपूर्ण है। कार्य करते हुए सावधान

---

* बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
(गीता १३। १५)

होकर परमात्माकी सत्ता मानेंगे, तो ध्यानके समय बड़ी मदद मिलेगी और ध्यानके समय सङ्कल्प-विकल्पकी उपेक्षा करके परमात्मामें अटल स्थित रहेंगे, तो व्यवहार करते समय परमात्माके चिन्तनमें बड़ी सहायता मिलेगी। जो साधक होता है, वह घण्टे-दो-घण्टे नहीं, आठों पहर साधक होता है। जैसे ब्राह्मण अपने ब्राह्मणपनेमें निरन्तर स्थित रहता है, ऐसे ही भक्त जोग परमात्मामें निरन्तर स्थित रहते हैं। ब्राह्मण तो पैदा होता है, पर परमात्मा पैदा नहीं होते। परन्तु काम-धंधा करते हुए पदार्थोंकी, क्रियाओंकी, व्यक्तियोंकी तरफ वृत्ति रहनेसे उन सबमें परिपूर्ण परमात्मा दीखते नहीं। इस वास्ते एकान्तमें बैठकर ध्यान करते समय और व्यवहारकालमें कार्य करते समय साधककी दृष्टि इस तरफ रहनी चाहिये कि सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, क्रिया आदिमें एक परमात्म-तत्त्व ही ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। उसीमें स्थित रहे और कुछ भी चिन्तन न करे।

सम्बन्ध—

पूर्वोक्त प्रकारसे निर्विकल्प स्थिति न हो, तो क्या करे—इसके लिये आगेके श्लोकमें अभ्यास बताते हैं।

श्लोक—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

अर्थ—

यह अस्थिर और चञ्चल मन जहाँ-जहाँ विचरण करता है, वहाँ-वहाँसे हटाकर इसको एक परमात्मामें ही लगाये।*

व्याख्या—

'यतो यतो निश्चरति...... .....आत्मन्येव वशं नयेत्'—साधकने जो ध्येय बनाया है, उसमें यह मन टिकता नहीं, ठहरता नहीं। इस वास्ते इसको 'अस्थिर' कहा गया है। यह मन तरह-तरहके सांसारिक भोगोंका, पदार्थोंका चिन्तन करता है। इस वास्ते इसको 'चञ्चल' कहा गया है। तात्पर्य है कि यह मन न तो परमात्मामें स्थिर होता है और न संसारको ही छोड़ता है। इस वास्ते साधकको चाहिये कि यह मन जहाँ-जहाँ जाय, जिस-जिस कारणसे जाय, जैसे-जैसे जाय और जब-जब जाय, इसको वहाँ-वहाँसे, उस-उस कारणसे, वैसे-वैसे और तब-तब हटाकर परमात्मामें लगाये। इस अस्थिर और चञ्चल मनका नियमन करनेमें सावधानी रखे, ढिलाई न करे।

इस मनको परमात्मामें लगानेका तात्पर्य है कि जब यह पता लगे कि मन पदार्थोंका चिन्तन कर रहा है, तभी ऐसा समझे कि चिन्तनकी वृत्ति और उसके विषयका आधार और प्रकाशक परमात्मा ही हैं। यही परमात्मामें मन लगाना है।

'परमात्मामें मन लगानेकी युक्तियाँ'—(१) मन जिस किसी इन्द्रियके विषयमें, जिस किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना, परिस्थिति आदिमें

---

* गीताभरमें अभ्यासका स्वरूप स्पष्टरूपसे इसी श्लोकमें देखनेको मिलता है।

चला जाय अर्थात् उसका चिन्तन करने लग जाय, उसी समय उस विषय आदिसे मनको हटाकर अपने ध्येय—परमात्मामें लगाये। फिर चला जाय तो फिर लाकर परमात्मामें लगाये। इस प्रकार मनको बार-बार अपने ध्येयमें लगाता रहे।

(२) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ ही परमात्माको देखे। जैसे, गङ्गाजी याद आ जायँ, तो गङ्गाजीके रूपमें परमात्मा ही हैं; गाय याद आ जाय, तो गायरूपसे परमात्मा ही हैं— इस तरह मनको परमात्मामें लगाये। दूसरी दृष्टिसे, गङ्गाजी आदिमें सत्तारूपसे परमात्मा-ही-परमात्मा हैं; क्योंकि इनसे पहले भी परमात्मा ही थे, इनके मिटनेपर भी परमात्मा ही रहेंगे और इनके रहते हुए भी परमात्मा ही हैं—इस तरह मनको परमात्मामें लगाये।

(३) साधक जब परमात्मामें मन लगानेका अभ्यास करता है, तो संसारकी बातें याद आती हैं। इससे साधक घबरा जाता है कि जब मैं संसारका काम करता हूँ तो इतनी बातें याद नहीं आतीं, इतना चिन्तन नहीं होता, परन्तु जब परमात्मामें मन लगानेका अभ्यास करता हूँ तो मनमें तरह-तरहकी बातें याद आने लगती हैं। पर ऐसा समझकर साधकको घबराना नहीं चाहिये; क्योंकि जब साधकका उद्देश्य परमात्माका बन गया, तो अब संसारके चिन्तनके रूपमें भीतरसे कूड़ा-कचरा निकल रहा है, भीतरसे सफाई हो रही है। तात्पर्य है कि सांसारिक कार्य करते समय भीतर जमा हुए पुराने संस्कारोंको बाहर निकालनेका मौका नहीं मिलता। इस वास्ते सांसारिक कार्य छोड़कर एकान्तमें बैठनेसे

उनको बाहर निकलनेका मौका मिलता है और वे बाहर निकलने लगते हैं।

सम्बन्ध—

चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें जिस ध्यानयोगीकी उपरतिका वर्णन किया गया, आगेके दो श्लोकोंमें उसकी अवस्थाका वर्णन करते हुए उसके साधनका फल बताते हैं।

श्लोक—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

अर्थ—

जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिसका रजोगुण तथा मन सर्वथा शान्त हो गया है, ऐसे इस ब्रह्मस्वरूप योगीको निश्चित ही उत्तम-(सात्त्विक-) सुख प्राप्त होता है।

व्याख्या—

'प्रशान्तमनसं ह्येनं'....... ब्रह्मभूतमकल्मषम्'—जिसके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं अर्थात् तमोगुण और तमोगुणकी अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह (गीता १४। १३)—ये वृत्तियाँ नष्ट हो गयी हैं, ऐसे योगीको यहाँ **'अकल्मषम्'** कहा गया है।

जिसका रजोगुण और रजोगुणकी लोभ, प्रवृत्ति, नये-नये कर्मोंमें लगना, अशान्ति और स्पृहा (गीता १४। १२)—ये

वृत्तियाँ शान्त हो गयी हैं, ऐसे योगीको यहाँ 'शान्तरजसम्' बताया गया है।

तमोगुण, रजोगुण तथा उनकी वृत्तियाँ शान्त होनेसे जिसका मन स्वाभाविक शान्त हो गया है अर्थात् जिसकी मात्र प्राकृत पदार्थोंसे तथा सकल्प-विकल्पोंसे भी उपरति हो गयी है, ऐसे स्वाभाविक शान्त मनवाले योगीको यहाँ 'प्रशान्तमनसम्' कहा गया है।

'प्रशान्त' कहनेका तात्पर्य है कि ध्यानयोगी जबतक मनको अपना मानता है, तबतक मन अभ्याससे शान्त तो हो सकता है, पर प्रशान्त अर्थात् सर्वथा शान्त नहीं हो सकता। परन्तु जब ध्यानयोगी मनसे भी उपराम हो जाता है अर्थात् मनको भी अपना नहीं मानता, मनसे भी सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तो मनमें राग-द्वेष न होनेसे उसका मन स्वाभाविक ही शान्त हो जाता है।

पचीसवें श्लोकमें जिसकी उपरामताका वर्णन किया गया है, वही (उपराम होनेसे) पापरहित, शान्त रजोगुणवाला और प्रशान्त मनवाला हुआ है। इस वास्ते उस योगीके लिये यहाँ 'एनम्' पद आया है। ऐसे ब्रह्मस्वरूप ध्यानयोगीको स्वाभाविक ही उत्तम सुख अर्थात् सात्त्विक सुख प्राप्त होता है।

पहले तेईसवें श्लोकमें जिस योगका निश्चयपूर्वक अभ्यास करनेकी आज्ञा दी गयी थी—'स निश्चयेन योक्तव्यः' उस योग-का अभ्यास करनेवाले योगीको निश्चित ही उत्तम सुखकी प्राप्ति हो

जायगी, इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। इस निःसंदिग्धताको बतानेके लिये यहाँ 'हि' पदका प्रयोग हुआ है।

'सुखमुपैति' कहनेका तात्पर्य है कि जो योगी सबसे उपराम हो गया है; उसको उत्तम सुखकी खोज नहीं करनी पड़ती, उस सुखकी प्राप्तिके लिये उद्योग, परिश्रम आदि नहीं करने पड़ते, प्रत्युत वह उत्तम सुख उसको स्वतः-स्वाभाविक ही प्राप्त हो जाता है।

श्लोक—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

अर्थ—

इस प्रकार अपने-आपको सदा परमात्मामें लगाता हुआ पाप-रहित योगी सुखपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिरूप अत्यन्त सुखको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—

'युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः'—अपनी स्थितिके लिये जो (मनको बार-बार लगाना आदि) अभ्यास किया जाता है, वह अभ्यास यहाँ नहीं है। यहाँ तो अनभ्यास ही अभ्यास है अर्थात् अपने स्वरूपमें अपने-आपको दृढ़ रखना ही अभ्यास है। इस अभ्यासमें अभ्यासवृत्ति नहीं है। ऐसे अभ्याससे वह योगी अहंता-ममतारहित हो जाता है। अहंता और ममतासे रहित होना ही पापोंसे रहित होना है; क्योंकि संसारके साथ अहंता-ममतापूर्वक सम्बन्ध रखना ही पाप है।

पहले पन्द्रहवें श्लोकमें 'युञ्जन्नेवम्' पद सगुणके ध्यानके लिये आया है और यहाँ 'युञ्जन्नेवम्' पद निर्गुणके ध्यानके लिये आया है। ऐसे ही पन्द्रहवें श्लोकमें 'नियतमानसः' आया है और यहाँ 'विगतकल्मषः' आया है; क्योंकि वहाँ परमात्मामें मन लगानेकी मुख्यता है और यहाँ जड़ताका त्याग करनेकी मुख्यता है। वहाँ तो परमात्माका चिन्तन करते-करते मन सगुण परमात्मामें तल्लीन हो गया तो संसार स्वतः ही छूट गया और यहाँ अहंता-ममतारूप कल्मषसे अर्थात् संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने ध्येय परमात्मामें स्थित हो गया। इस प्रकार दोनोंका तात्पर्य एक ही हुआ अर्थात् वहाँ परमात्मामें लगनेसे संसार छूट गया और यहाँ संसारको छोड़कर परमात्मामें स्थित हो गया।

'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते'—उनकी ब्रह्मके साथ जो अभिन्नता होती है, उसमें 'मैं'-पनका संस्कार भी नहीं रहता, सत्ता भी नहीं रहती। यही सुखपूर्वक ब्रह्मका संस्पर्श करना है। जिस सुखमें अनुभव करनेवाला और अनुभवमें आनेवाला—ये दोनों ही नहीं रहते, वह 'अत्यन्त सुख' है। इस सुखको योगी प्राप्त कर लेता है। यह 'अत्यन्त सुख', 'अक्षय सुख' (५। २१) और 'आत्यन्तिक सुख' (६। २१)—ये एक ही परमात्मतत्त्वरूप आनन्दके वाचक हैं।

सम्बन्ध—

अठारहवेंसे तेईसवें श्लोकतक स्वरूपका ध्यान करनेवाले जिस सांख्ययोगीका वर्णन हुआ है, उसके अनुभवका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

अर्थ—

सब जगह समानरूपसे देखनेवाला और ध्यानयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला योगी अपने स्वरूपको सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने स्वरूपमें देखता है।

व्याख्या—

'ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः'—सब जगह एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। जैसे मनुष्य खाँड़से बने हुए अनेक तरहके खिलौनोंके नाम, रूप, आकृति आदि भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनमें समानरूपसे एक खाँड़को, लोहेसे बने हुए अनेक तरहके अस्त्र-शस्त्रोंमें एक लोहेको, मिट्टीसे बने हुए अनेक तरहके बर्तनोंमें एक मिट्टीको और सोनेसे बने हुए आभूषणोंमें एक सोनेको ही देखता है, ऐसे ही ध्यानयोगी भाँति-भाँतिकी वस्तु-व्यक्ति आदिमें समरूपसे एक अपने स्वरूपको ही देखता है।

'योगयुक्तात्मा'—कहनेका तात्पर्य है कि ध्यानयोगका अभ्यास करते-करते उस योगीका अन्तःकरण अपने स्वरूपमें तल्लीन हो गया है। [तल्लीन होनेके बाद उसका अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसका संकेत 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' पदोंसे किया गया है।

'सर्वभूतस्थमात्मानम्'—वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी आत्माको—अपने सत्-स्वरूपको स्थित देखता है। जैसे साधारण प्राणी

सारे शरीरमें अपने-आपको देखता है अर्थात् शरीरके सभी अवयवोंमें, अंशोंमें 'मैं' को ही पूर्णरूपसे देखता है, ऐसे ही समदर्शी पुरुष सब प्राणियोंमें अपने स्वरूपको ही स्थित देखता है।

किसीको नींदमें स्वप्न आये, तो वह स्वप्नमें स्थावर-जङ्गम प्राणी-पदार्थ देखता है। पर नींद खुलनेपर वह स्वप्नकी सृष्टि नहीं दीखती; अतः स्वप्नमें स्थावर-जङ्गम आदि सब कुछ स्वयं ही बना था। जाग्रत्-अवस्थामें किसी जड़ या चेतन प्राणी-पदार्थकी याद आती है, तो वह मनसे दीखने लग जाता है और याद हटते ही वह सब दृश्य अदृश्य हो जाता है; अतः यादमें सब कुछ अपना मन ही होता है। ऐसे ही ध्यानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने स्वरूपको स्थित देखता है। स्थित देखनेका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें सत्तारूपसे अपना ही स्वरूप है। स्वरूपके सिवाय दूसरी कोई सत्ता ही नहीं है, क्योंकि संसार एक क्षण भी एकरूप नहीं रहता, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। संसारके किसी रूपको एक बार देखनेपर अगर दुबारा उसको कोई देखना चाहे, तो देख ही नहीं सकता; क्योंकि वह पहला रूप बदल गया। ऐसे परिवर्तनशील वस्तु, व्यक्ति आदिमें योगी सत्तारूपसे अपरिवर्तनशील अपने स्वरूपको ही देखता है।

'सर्वभूतानि चात्मनि'—वह सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने अन्तर्गत देखता है अर्थात् अपने सर्वगत, असीम, सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें ही सभी प्राणियोंको तथा सारे संसारको देखता है। जैसे एक प्रकाशके अन्तर्गत लाल, पीला, काला, नीला

आदि जितने रंग दीखते हैं, वे सभी प्रकाशसे ही बने हुए हैं और प्रकाशमें ही दीखते हैं और जैसे जितनी वस्तुएँ दीखती हैं, वे सभी सूर्यसे ही उत्पन्न हुई हैं और सूर्यके प्रकाशमें ही दीखती हैं, ऐसे ही वह योगी सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने स्वरूपसे ही पैदा हुए, स्वरूपमें ही लीन होते हुए और स्वरूपमें ही स्थित देखता है। तात्पर्य है कि उसको जो कुछ दीखता है, वह सब अपना स्वरूप ही दीखता है।

इस श्लोकमें प्राणियोंमें तो अपनेको स्थित बताया है, पर अपनेमें प्राणियोंको स्थित नहीं बताया। ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि प्राणियोंमें तो अपनी सत्ता है, पर अपनेमें प्राणियोंकी सत्ता नहीं है। कारण कि स्वरूप तो सदा एकरूप रहनेवाला है, पर प्राणी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं।

इस श्लोकका तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहारमें तो प्राणियोंके साथ अलग-अलग बर्ताव होता है; परन्तु अलग-अलग बर्ताव होनेपर भी उस समदर्शी योगीकी स्थितिमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

सम्बन्ध—

भगवान्‌ने चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले जिस भक्तियोगीका वर्णन किया था, उसके अनुभवकी बात आगेके श्लोकमें कहते हैं।

श्लोक—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

अर्थ—

जो सबमें मेरेको देखता है और सबको मेरेमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ।

व्याख्या—

'यो मां पश्यति सर्वत्र'—जो भक्त सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, राक्षस, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदिमें मेरेको देखता है । जैसे, ब्रह्माजी जब बछड़ों और ग्वालबालों-को चुराकर ले गये, तो भगवान् कृष्ण स्वयं ही बछड़े और ग्वालबाल बन गये । बछड़े और ग्वालबाल ही नहीं, प्रत्युत उनके बेंत, सींग, बाँसुरी, वस्त्र, आभूषण आदि भी भगवान् स्वयं ही बने* । यह लीला एक वर्षतक चलती रही, पर किसीको इसका पता नहीं चला । बछड़ोंमेंसे कई बछड़े तो केवल दूध ही पीनेवाले थे, इस वास्ते वे घरपर ही रहते थे और बड़े बछड़ोंको भगवान् कृष्ण अपने साथ वनमें ले जाते थे । एक दिन दाऊ दादा (बलरामजी) ने देखा कि छोटे बछड़ोंवाली गायें भी अपने पहलेके (बड़े) बछड़ों-को देखकर उनको दूध पिलानेके लिये हुंकार मारती हुई दौड़ पड़ीं । बड़े गोपोंने उन गायोंको बहुत रोका, पर वे रुकी नहीं । इससे

---

* यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । १९)

गोपोंको उन गायोंपर बहुत गुस्सा आ गया। परन्तु जब उन्होंने अपने-अपने बालकोंको देखा तो उनका गुस्सा शान्त हो गया और स्नेह उमड़ पड़ा। वे बालकोंको हृदयसे लगाने लगे, उनका माथा सूँघने लगे। इस लीलाको देखकर दाऊ दादाने सोचा कि यह क्या बात है; उन्होंने ध्यान लगाकर देखा तो उनको बछड़ों और ग्वालबालोंके रूपमें भगवान् कृष्ण ही दिखायी दिये। ऐसे ही भगवान्‌का सिद्ध भक्त सब जगह भगवान्‌को ही देखता है अर्थात् उसकी दृष्टिमें भगवत्सत्ताके सिवाय दूसरी किञ्चिन्मात्र भी सत्ता नहीं रहती।

'सर्वं च मयि पश्यति'—और जो भक्त देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिको मेरे ही अन्तर्गत देखता है। जैसे, गीताका उपदेश देते समय अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान् अपना विश्वरूप दिखाते हुए कहते हैं कि चराचर सारे संसारको मेरे एक अंशमें स्थित देख—**'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे ....'** (११ । ७), तो अर्जुन भी कहते हैं कि मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंको देख रहा हूँ—**'पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्'** (११ । १५)। संजयने भी कहा है कि अर्जुनने भगवान्‌के शरीरमें सारे संसारको देखा—**'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा'** (११ । १३)। तात्पर्य है कि अर्जुनने भगवान्‌के शरीरमें सब कुछ भगवत्स्वरूप ही देखा। ऐसे ही भक्त देखने,

सुनने, समझनेमें जो कुछ आता है, उसको भगवान्‌में ही देखता है और भगवत्स्वरूप ही देखता है।

'तस्याहं न प्रणश्यामि'—भक्त जब सब जगह मेरेको ही देखता है, तो मैं उससे कैसे छिपूँ, कहाँ छिपूँ और किसके पीछे छिपूँ। इस वास्ते मैं उस भक्तके लिये अदृश्य नहीं रहता अर्थात् निरन्तर उसके सामने ही रहता हूँ।

'स च मे न प्रणश्यति'—जब भक्त भगवान्‌को सब जगह देखता है, तो भगवान् भी भक्तको सब जगह देखते हैं, क्योंकि भगवान्‌का यह नियम है कि जो जिस प्रकार मेरा भजन करते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनका भजन करता हूँ—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)। तात्पर्य है कि भक्त भगवान्‌के साथ घुल-मिल जाते हैं, भगवान्‌के साथ उनकी आत्मीयता, एकता हो जाती है, इस वास्ते भगवान् अपने स्वरूपमें उनको सब जगह देखते हैं। इस दृष्टिसे भक्त भी भगवान्‌के लिये कभी अदृश्य नहीं होता।

यहाँ शङ्का होती है कि भगवान्‌के लिये तो कोई भी अदृश्य नहीं है—**'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि ……'** (गीता ७।२६), फिर यहाँ केवल भक्तके लिये ही 'वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता'—ऐसा क्यों कहा है? इसका समाधान है कि यद्यपि भगवान्‌के लिये कोई भी अदृश्य नहीं है, तथापि जो भगवान्‌को सब जगह देखता है, उसके भावके कारण भगवान् भी उसको सब जगह देखते हैं। परन्तु जो भगवान्-

से विमुख होकर संसारमें आसक्त हैं, उसके लिये भगवान् अदृश्य रहते हैं—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' (गीता ७ । २५), इस वास्ते (उसके भावके कारण) वह भी भगवान्‌के लिये अदृश्य रहता है। जितने अंशमें उसका भगवान्‌के प्रति भाव नहीं है, उतने अंशमें वह भगवान्‌के लिये अदृश्य रहता है। ऐसी ही बात भगवान्‌ने नवें अध्यायमें भी कही है कि 'मैं सब प्राणियोंमें समान हूँ। न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ।'*

सम्बन्ध—

अब भगवान् आगेके श्लोकमें ध्यान करनेवाले सिद्ध भक्तियोगीके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

अर्थ—

मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ जो योगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मेरा भजन करता है, वह सब कुछ बर्ताव करता हुआ भी मेरेमें ही बर्ताव कर रहा है अर्थात् वह सर्वथा मेरेमें ही स्थित है।

---

* समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(गीता ९ । २९)

व्याख्या—

'एकत्वमास्थितः'—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बताया था कि जो मेरेको सबमें और सबको मेरेमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। अदृश्य क्यों नहीं होता ? कारण कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मेरे साथ उसकी अभिन्नता हो गयी है अर्थात् मेरे साथ उसका अत्यधिक प्रेम हो गया है।

अद्वैत सिद्धान्तमें तो स्वरूपसे एकता होती है, पर यहाँ वैसी एकता नहीं है। यहाँ द्वैत होते हुए भी अभिन्नता है अर्थात् भगवान् और भक्त दीखनेमें तो दो हैं, पर वास्तवमें एक ही हैं*। जैसे पति और पत्नी दो शरीर होते हुए भी अपनेको अभिन्न मानते हैं, दो मित्र अपनेको एक ही मानते हैं; क्योंकि अत्यन्त स्नेह होनेके कारण वहाँ द्वैतपना नहीं रहता। ऐसे ही जो भक्तियोगका साधक भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है, भगवान्‌में अत्यन्त स्नेह होनेके कारण उसकी भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है। इसी अभिन्नताको यहाँ **'एकत्वमास्थितः'** पदसे बताया गया है।

'सर्वभूतस्थितं यो मां भजति'—सब देश, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें भगवान् ही परिपूर्ण हैं अर्थात् सम्पूर्ण

---

* ज्ञानमें तो दो होकर एक होते हैं, पर भक्तिमें प्रेमके विलक्षण आनन्दका आदान-प्रदान करनेके लिये, प्रेमका विस्तार करनेके लिये एक होकर दो हो जाते हैं; जैसे—भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीजी एक होकर भी दो हैं।

चराचर जगत् भगवत्स्वरूप ही है—'वासुदेवः सर्वम्'(७ । १९) —यही उसका भजन है ।

'सर्वभूतस्थितम्' पदसे ऐसा असर पड़ता है कि भगवान् केवल प्राणियोंमें ही स्थित हैं । परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है । भगवान् केवल प्राणियोंमें ही स्थित नहीं हैं, प्रत्युत संसारके कण-कणमें परिपूर्णरूपसे स्थित हैं । जैसे, सोनेके आभूषण सोनेसे ही बनते हैं, सोनेमें ही स्थित रहते हैं और सोनेमें ही उनका पर्यवसान होता है अर्थात् सब समय एक सोना-ही-सोना है । परन्तु लोगोंकी दृष्टिमें आभूषणोंकी सत्ता अलग प्रतीत होनेके कारण उनको समझानेके लिये कहा जाता है कि आभूषणोंमें सोना ही है । ऐसे ही सृष्टिके पहले, सृष्टिके समय और सृष्टिके बाद एक परमात्मा-ही-परमात्मा है । परन्तु लोगोंकी दृष्टिमें प्राणियों और पदार्थोंकी सत्ता अलग प्रतीत होनेके कारण उनको समझानेके लिये कहा जाता है कि प्राणियोंमें एक परमात्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है । इसी वास्तविकताको यहाँ 'सर्वभूतस्थितं माम्' पदोंसे कहा गया है ।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'—वह शास्त्र और वर्ण-आश्रमकी मर्यादाके अनुसार खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते आदि सभी क्रियाएँ करते हुए मेरेमें ही बरतता है, मेरेमें ही रहता है । कारण कि जब उसकी दृष्टिमें मेरे सिवाय दूसरी कोई सत्ता ही नहीं रही, तो फिर वह जो कुछ बर्ताव करेगा, उसको कहाँ करेगा ? वह तो मेरेमें ही सब कुछ करेगा ।

तेरहवें अध्यायमें ज्ञानयोगके प्रकरणमें भगवान्‌ने यह बताया कि सब कुछ बर्ताव करते हुए भी उसका फिर जन्म नहीं होता— **'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'** (१३ । २३); और यहाँ भगवान्‌ने बताया है कि सब कुछ बर्ताव करते हुए भी वह मेरेमें ही रहता है । इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेकी बात है और यहाँ भगवान्‌के साथ अभिन्न होनेकी बात है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ज्ञानयोगी मुक्त हो जाता है और भगवान्‌के साथ अभिन्नता होनेपर भक्त प्रेमके एक विलक्षण रसका आस्वादन करता है, जो अनन्त और प्रतिक्षण वर्धमान है ।

यहाँ भगवान्‌ने कहा है कि वह योगी मेरेमें बर्ताव करता है अर्थात् मेरेमें ही रहता है। इसपर शङ्का होती है कि क्या अन्य प्राणी भगवान्‌में नहीं रहते ? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें ही बरतते हैं, मेरेमें ही रहते हैं; परन्तु उनके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता और महत्ता रहनेसे वे भगवान्‌में अपनी स्थिति जानते नहीं, मानते नहीं। इस वास्ते भगवान्‌में बरतते हुए भी, भगवान्‌में रहते हुए भी उनका बर्ताव संसारमें ही हो रहा है अर्थात् उन्होंने जगत्‌में अहंता-ममता करके जगत्‌को धारण कर रखा है—'ययेदं धार्यते जगत्' (गीता ७ । ५) । वे जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप न समझकर अर्थात् जगत् समझकर बर्ताव करते हैं । वे कहते भी हैं कि हम तो संसारी आदमी हैं, हम तो संसार-में रहनेवाले हैं। परन्तु भगवान्‌का भक्त इस बातको जानता है

कि यह सब संसार वासुदेवरूप है। इस वास्ते वह भक्त हरदम भगवान्‌में ही रहता है और भगवान्‌में ही वर्ताव करता है।

सम्बन्ध—

भगवान्‌ने पहले उन्तीसवें श्लोकमें स्वरूपके ध्यानयोगीका अनुभव बताया। बीचमें तीसवें-इकतीसवें श्लोकोंमें सिद्ध भक्तियोगीकी स्थिति और लक्षण बताये। अब फिर निर्गुण-निराकारका ध्यान करनेवाले सांख्ययोगीका अनुभव बतानेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—

हे अर्जुन! जो (ध्यानयुक्त ज्ञानी महापुरुष) अपने शरीरकी उपमासे सब जगह अपनेको समान देखता है और सुख अथवा दुःखको भी समान देखता है, वह परमयोगी माना गया है।

व्याख्या—

[जिसको इसी अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' कहा है और जिसको अट्ठाईसवें श्लोकमें 'अत्यन्त सुख' की प्राप्ति होनेकी बात कही है, उस सिद्ध सांख्ययोगीका प्राणियोंके साथ कैसा बर्ताव होता है—इसका इस श्लोकमें वर्णन किया गया है। कारण कि गीताके ब्रह्मभूत सांख्ययोगीकी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें स्वाभाविक ही रति होती है—**'सर्वभूतहिते रताः'**(५ । २५, १२ । ४)।]

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन'—साधारण मनुष्य जैसे अपने शरीरमें अपनी स्थिति देखता है, तो उसके शरीरके किसी अङ्गमें किसी तरहकी पीड़ा हो—ऐसा वह नहीं चाहता, प्रत्युत सभी अङ्गोंका समानरूपसे आराम चाहता है। ऐसे ही सब प्राणियोंमें अपनी समान स्थिति देखनेवाला महापुरुष सभी प्राणियोका समानरूपसे आराम चाहता है। उसके सामने कोई दुःखी प्राणी आ जाय, तो अपने शरीरके किसी अङ्गका दुःख दूर करनेकी तरह ही उसका दुःख दूर करनेकी स्वाभाविक चेष्टा होती है। तात्पर्य है कि जैसे साधारण प्राणीकी अपने शरीरके आरामके लिये चेष्टा होती है, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुषकी दूसरोंके शरीरोंके आरामके लिये स्वाभाविक चेष्टा होती है।

'सर्वत्र' कहनेका तात्पर्य है कि वर्ण, आश्रम, देश, वेश, सम्प्रदाय आदिका भेद न रखकर सबको समान रीतिसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा होती है। ऐसे ही पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंको भी समान-रीतिसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा होती है, और साथ-ही-साथ उनका दुःख दूर करनेका भी स्वाभाविक उद्योग होता है।

अपने शरीरके अङ्गोंका दुःख दूर करनेकी समान चेष्टा होने-पर भी अङ्गोंमें भेद-दृष्टि तो रहती ही है और रहना आवश्यक भी है। जैसे, हाथका काम पैरसे नहीं किया जाता। अगर हाथको हाथ छू जाय तो हाथ धोनेकी जरूरत नहीं पड़ती; परन्तु पैरको हाथ छू जाय तो हाथ धोना पड़ता है। अगर मल-मूत्रके अङ्गोंको

हाथसे साफ किया जाय, तो हाथको मिट्टी लगाकर विशेषतासे धोना, निर्मल करना पड़ता है। ऐसे ही शास्त्र और वर्ण-आश्रमकी मर्यादाके अनुसार सबके सुख-दुःखमें समान भाव रखते हुए भी स्पर्श--अस्पर्शका ख्याल रखकर व्यवहार होना चाहिये। किसीके प्रति किञ्चिन्मात्र भी घृणाकी सम्भावना ही नहीं होनी चाहिये। जैसे अपने शरीरके पवित्र-अपवित्र अङ्गोंकी रक्षा करनेमें और उनको सुख पहुँचानेमें कोई कमी न रखते हुए भी शुद्धिकी दृष्टिसे उनमें स्पर्श-अस्पर्शका भेद रखते हैं। ऐसे ही शास्त्र-मर्यादाके अनुसार संसारके सभी प्राणियोंमें स्पर्श-अस्पर्शका भेद मानते हुए भी ज्ञानी महापुरुषके द्वारा उनका दुःख दूर करनेकी और उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टामें कभी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं आती। तात्पर्य है कि जैसे अपने शरीरका कोई अङ्ग अस्पर्श्य होनेपर भी वह अप्रिय नहीं होता, ऐसे ही शास्त्र-मर्यादाके अनुसार कोई प्राणी अस्पर्श्य होनेपर भी उसमें प्रियता, हितैषिताकी कभी कमी नहीं होती।

'सुखं वा यदि वा दुःखम्'—अपने शरीरकी उपमासे दूसरोंके सुख-दुःखमें समान रहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि दूसरोंके शरीरके किसी अङ्गमें पीड़ा हो जाय, तो वह पीड़ा अपने शरीरमें भी हो जाय, अपनेको भी उस पीड़ाका अनुभव हो जाय। अगर ऐसी समता की जाय तो अपनेको दुःख ही ज्यादा होगा; क्योंकि संसारमें दुःखी प्राणी ही ज्यादा हैं।

दूसरी बात, जैसे विरक्त त्यागी महात्मालोग अपने शरीरकी और अपने शरीरके अङ्गोंमें होनेवाली पीड़ाकी उपेक्षा कर देते हैं,

ऐसे ही दूसरोंके शरीरोंकी और उनके शरीरोंके अङ्गोंमें होनेवाली पीडाकी उपेक्षा हो जाय अर्थात् जैसे उनको अपने शरीरके सुख-दुःखका भान नहीं होता, ऐसे ही दूसरोंके सुख-दुःखका भी अपनेको भान न हो—यह भी उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य नहीं है।

उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य है कि जैसे शरीरमें आसक्त अज्ञानी पुरुषके शरीरमें पीडा होनेपर उस पीड़ाको दूर करनेमें और सुख पहुँचानेमें उसकी जैसी चेष्टा होती है, तत्परता होती है, ऐसे ही दूसरोंका दुःख दूर करनेमें और सुख पहुँचानेमें ज्ञानी महात्माओंकी स्वाभाविक चेष्टा होती है, तत्परता होती है*।

जैसे, किसीके हाथमें चोट लग गयी और उसने उस हाथको गलेमें टाँग दिया। अब वह लोक-समुदायमें जाता है, तो उस पीड़ित हाथको धक्का न लग जाय, इस वास्ते दूसरे हाथको सामने रखकर उस पीड़ित हाथकी रक्षा करता है और उसको धक्का न लगे, ऐसा उद्योग करता है। परन्तु उसके मनमें कभी यह अभिमान नहीं आता कि मै इस हाथकी पीड़ा दूर करनेवाला हूँ, इसको सुख पहुँचानेवाला हूँ। वह उस हाथपर ऐसा एहसान भी नहीं करता कि देख हाथ! मैंने तेरी पीड़ा दूर करनेके लिये कितनी चेष्टा की। पीड़ाको शान्त करनेपर वह अपनेमें विशेषताको भी अनुभव नहीं करता। ऐसे ही ज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा दुःखी प्राणियोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा स्वाभाविक होती है। उनके

* सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥
(मानस २।१४१।१)

मनमें यह अभिमान नहीं आता कि मैं प्राणियोंका दुःख दूर कर रहा हूँ, दूसरोंको सुख पहुँचा रहा हूँ। उनका दुःख दूर करनेकी चेष्टा करनेपर वे अपनेमें कोई विशेषता भी नहीं देखते। उनका स्वभाव ही दूसरोंका दुःख दूर करनेका, उनको सुख पहुँचानेका होता है।

ज्ञानी पुरुषके शरीरमें पीड़ा होती है, तो वह उसको सह सकता है और उसके द्वारा उस पीड़ाकी उपेक्षा भी हो सकती है; परन्तु दूसरेके शरीरमें पीड़ा हो तो उसको वह सह नहीं सकता। कारण कि जैसे दोनों हाथोंमें अपनी व्यापकता समान है, ऐसे ही सब शरीरोंमें अपनी स्थिति समान है। परन्तु जिस अन्तःकरणमें बोध हुआ है, उसमें पीड़ा सहनेकी शक्ति है और दूसरोंके अन्तःकरणमें पीड़ा सहनेकी वैसी सामर्थ्य नहीं है। इस वास्ते उनके द्वारा दूसरोंके शरीरोंकी पीड़ा दूर करनेमें विशेष तत्परता होती है। जैसे, इन्द्रने बिना किसी अपराधके दधीचि ऋषिका सिर काट दिया। पीछे अश्विनीकुमारोंने उनको पुनः जिला दिया। परन्तु जब इन्द्रका काम पड़ा तो दधीचिने अपना शरीर छोड़कर उनको (वज्र बनानेके लिये) अपनी हड्डियाँ दे दीं।

अपने शरीरके दुःखकी तो उपेक्षा होती है और दूसरोंके दुःखकी उपेक्षा नहीं होती—यह तो विषमता हो गयी! यह समता कहाँ रही? इसका उत्तर है कि वास्तवमें यह विषमता समताकी जनक है, समताको प्राप्त करानेवाली है। यह विषमता समतासे भी ऊँचे दर्जेकी चीज है। साधक साधन-अवस्थामें

ऐसी विषमता करता है, तो सिद्ध-अवस्थामें भी उसकी ऐसी ही स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। परन्तु उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी विषमता नहीं आती।

'स योगी परमो मतः'—उसकी दृष्टिमें सिवाय परमात्माके कुछ नहीं रहा। वह नित्ययोग (परमात्माके नित्यसम्बन्ध) और नित्यसमतामें स्थित रहता है। कारण कि शरीर-संसारसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होनेसे उसका परमात्मासे कभी वियोग होता ही नहीं और वह सभी अवस्थाओं तथा परिस्थितियोंमें एकरूप ही रहता है। इस वास्ते वह मेरेको परमयोगी मान्य है।

विशेष बात—

(१) यहाँ जैसे ध्यानयोगीके लिये **'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति'** कहा गया है, ऐसे ही कर्मयोगीके लिये **'सर्वभूतात्मभूतात्मा'** (५। ७) और ज्ञानयोगीके लिये **'सर्वभूतहिते रताः'** (५। २५, १२। ४) कहा गया है। परन्तु भक्तियोगमें तो भक्त सम्पूर्ण शरीरोंमें अपने इष्टदेवको देखता है (६। ३०) और अपने कर्मोंके द्वारा उनका पूजन करता है— **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** (१८। ४६)। तात्पर्य यह है कि कर्मयोगी और ज्ञानयोगी साधकोंको चाहिये कि वे सबमें अपने-आपको देखें तथा भक्तियोगी साधकोंको चाहिये कि वे सबमें ईश्वरको, अपने इष्टदेवको देखें।

(२) सबको अपना भाई समझो—यह भ्रातृभाव बड़ा उत्तम है। परन्तु स्वार्थभावको लेकर जब भाई-भाई लड़ते हैं, तो

भ्रातृभाव नहीं रहता, प्रत्युत वैरभाव पैदा हो जाता है। जैसे, कौरवों और पाण्डवोंमें लड़ाई हो गयी। परन्तु 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' अर्थात् शरीरभावमें कभी वैर नहीं हो सकता। जैसे अपने दाँतोंसे अपनी जीभ अथवा होठ कट जाय, तो दाँतोंको कोई नहीं तोड़ता अर्थात् दाँतोंके साथ कोई वैर नहीं करता। ऐसे ही अपने शरीरकी उपमासे जो सबमें सुख-दुःखको समान देखता है, उसमें कभी वैरभाव नहीं होता। इस शरीरभावसे भी ऊँचा है—भगवद्भाव। इस भावमें अपने इष्टदेवका भाव होता है। तात्पर्य है कि भगवद्भाव भ्रातृभाव और शरीरभावसे भी ऊँचा है। इस वास्ते भगवान्‌ने गीतामें जगह-जगह अपने भक्तोंकी बहुत महिमा गायी है; जैसे—वह परम श्रेष्ठ है—'स मे युक्ततमो मतः' (६ । ४७); वे योगी मेरे मतमें अत्यन्त उत्कृष्ट हैं—'ते मे युक्ततमा मताः' (१२ । २); वे भक्त मेरेको अत्यन्त प्यारे हैं—'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' (१२ । २०) आदि-आदि।

सम्बन्ध—

जिस समताकी प्राप्ति सांख्ययोग और कर्मयोगके द्वारा होती है, उसी समताकी प्राप्ति ध्यानयोगके द्वारा भी होती है—इसको भगवान्‌ने दसवें श्लोकसे बत्तीसवें श्लोकतक बताया। अब अर्जुन ध्यानयोगसे प्राप्त समताको लेकर आगेके दो श्लोकोंमें अपनी मान्यता प्रकट करते हैं।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन ! आपने समतापूर्वक जो यह योग कहा है, मनकी चञ्चलताके कारण मैं इस योगकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ ।

व्याख्या—

[मनुष्यके कल्याणके लिये भगवान्‌ने गीतामें खास बात बतायी कि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिको लेकर चित्तमें समता रहनी चाहिये । इस समतासे मनुष्यका कल्याण होता है । अर्जुन पापोंसे डरते थे तो उनके लिये भगवान्‌ने कहा कि 'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर तुम युद्ध करो, फिर तुम्हारेको पाप नहीं लगेगा'* । जैसे दुनियामें बहुत-से पाप होते रहते हैं, पर वे पाप हमें नहीं लगते; क्योंकि उन पापोंमें हमारी विषम-बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत समबुद्धि रहती है । ऐसे ही समबुद्धिपूर्वक सांसारिक काम करनेसे कर्मोंसे बन्धन नहीं होता । इसी भावसे भगवान्‌ने इस अध्यायके आरम्भमें कहा है कि जो कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है । इसी कर्मफलत्यागकी सिद्धि भगवान्‌ने 'समता' बतायी (६ । ९) । इस समताकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌ने दसवें श्लोकसे बत्तीसवें श्लोकतक ध्यानयोगका वर्णन किया । इसी ध्यानयोगके वर्णनका लक्ष्य करके अर्जुन यहाँ अपनी मान्यता प्रकट करते हैं ।]

---

* सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २ । ३८)

'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन'— यहाँ अर्जुनने जो अपनी मान्यता बतायी है, वह पूर्वश्लोकको लेकर नहीं है, प्रत्युत ध्यानके साधनको लेकर है। कारण कि बत्तीसवाँ श्लोक ध्यानयोगद्वारा सिद्ध पुरुषका है और सिद्ध पुरुषकी समता स्वतः होती है। इस वास्ते यहाँ 'यः' पदसे इस प्रकरणसे पहले कहे हुए योग-(समता-) का संकेत है और 'अयम्' पदसे दसवें श्लोकसे अट्ठाईसवें श्लोकतक कहे हुए ध्यानयोगके साधनका संकेत है।

'एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्'—इन पदोंसे अर्जुनका यह आशय मालूम देता है कि कर्मयोगसे तो समताकी प्राप्ति सुगम है, पर यहाँ जिस ध्यानयोगसे समताकी प्राप्ति बतायी है, मनकी चञ्चलताके कारण उस ध्यानमें स्थिर स्थिति रहना मेरेको बड़ा कठिन दिखायी देता है। तात्पर्य है कि जबतक मनकी चञ्चलताका नाश नहीं होगा, तबतक ध्यानयोग सिद्ध नहीं होगा और ध्यानयोग सिद्ध हुए बिना समताकी प्राप्ति नहीं होगी।

सम्बन्ध—

जिस चञ्चलताके कारण अर्जुन अपने मनकी दृढ़ स्थिति नहीं देखते, उस चञ्चलताका आगेके श्लोकमें उदाहरणसहित स्पष्ट वर्णन करते हैं।

श्लोक—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

अर्थ—

क्योंकि हे कृष्ण! मन बड़ा ही चञ्चल, प्रमथनशील, दृढ़ (जिद्दी) और बलवान् है। उसका निग्रह करना मैं वायुकी तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ।

व्याख्या—

'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्'—यहाँ भगवान्‌को 'कृष्ण' सम्बोधन देकर अर्जुन मानो यह कह रहे हैं कि हे नाथ! आप ही कृपा करके इस मनको खींचकर अपनेमें लगा लें, तो यह मन लग सकता है। मेरेसे तो इसका वशमें होना बड़ा कठिन है! क्योंकि यह मन बड़ा ही चञ्चल है। चञ्चलताके साथ-साथ यह प्रमाथि भी है अर्थात् यह साधकको अपनी स्थितिसे विचलित कर देता है। यह बड़ा जिद्दी और बलवान् भी है।

भगवान्‌ने 'काम' (कामना) के रहनेके पाँच स्थान बताये हैं - इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, विषय और स्वयं (गीता ३।४०, ३।३४, २।५९)। वास्तवमें काम स्वयंमें अर्थात् चिज्जड-ग्रन्थिमें रहता है और इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा विषयोंमें इसकी प्रतीति होती है। काम जबतक स्वयंसे निवृत्त नहीं होता, तबतक यह काम समय-समयपर इन्द्रियों आदिमें प्रतीत होता रहता है। पर जब यह स्वयंसे निवृत्त हो जाता है, तो इन्द्रियों आदिमें भी यह नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि जबतक स्वयंमें काम रहता है, तबतक मन साधकको व्यथित करता रहता है। इस वास्ते यहाँ मनको 'प्रमाथि' बताया गया है। ऐसे ही स्वयंमें काम रहनेके कारण इन्द्रियाँ साधकके

मनको व्यथित करती रहती हैं । इस वास्ते दूसरे अध्यायके साठवें श्लोकमें इन्द्रियोंको भी प्रमाथि बताया गया है—**'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः'** । तात्पर्य यह हुआ कि जब कामना मन और इन्द्रियोंमें आती है, तो वह साधकको महान् व्यथित कर देती है, जिससे साधक अपनी स्थितिपर नहीं रह पाता ।

उस कामके स्वयंमें रहनेके कारण मनका पदार्थोंके प्रति गाढ़ खिंचाव रहता है । इससे मन किसी तरह भी उनकी ओर जानेको छोड़ता नहीं, हठ कर लेता है । इस वास्ते मनको दृढ़ कहा है । मनकी यह दृढ़ता बहुत बलवती होती है । इस वास्ते मनको 'बलवत्' कहा है । तात्पर्य है कि मन बड़ा बलवान् है, जो कि साधकको जबर्दस्ती विषयोंमें ले जाता है । शास्त्रोंने तो यहाँतक कह दिया है कि मन ही मनुष्योंके मोक्ष और बन्धनमें कारण है—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** । परन्तु मनमें यह प्रमथनशीलता, दृढ़ता और बलवत्ता तभीतक रहती है, जबतक साधक अपनेमेंसे कामको सर्वथा निकाल नहीं देता । जब साधक स्वयं कामरहित हो जाता है, तो पदार्थोंका, विषयोंका कितना ही संसर्ग होनेपर भी साधकपर उनका कुछ भी असर नहीं पड़ता । फिर मनकी प्रमथनशीलता आदि नष्ट हो जाती है ।

मनकी चञ्चलता भी तभीतक बाधक होती है, जबतक स्वयंमें कुछ भी कामका अंश है । कामका अंश सर्वथा निवृत्त होनेपर मनकी चञ्चलता कुछ भी और किञ्चिन्मात्र भी बाधक नहीं होती । शास्त्रकारोंने कहा है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

अर्थात् देहाभिमान (जड़के साथ मैं-पन) सर्वथा मिट जानेपर जब परमात्मतत्त्वका बोध हो जाता है, तब जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ परमात्मतत्त्वका अनुभव होता है अर्थात् उसकी अखण्ड समाधि (सहज समाधि) रहती है।

'तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्'—इस चञ्चल, प्रमाथि, दृढ और बलवान् मनका निग्रह करना बड़ा कठिन है। जैसे आकाशमें विचरण करते हुए वायुको कोई मुट्ठीमें नहीं पकड़ सकता, ऐसे ही इस मनको कोई पकड़ नहीं सकता। इसका निग्रह करना महान् दुष्कर है।

सम्बन्ध—

अब आगेके श्लोकमें भगवान् अर्जुनकी मान्यताका अनुमोदन करते हुए मनके निग्रहके उपाय बताते हैं।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! यह मन बड़ा चञ्चल है और इसका निग्रह करना भी बड़ा कठिन है—यह तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है। परन्तु हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा इसका निग्रह किया जाता है।

व्याख्या—

'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्'—यहाँ 'महाबाहो' सम्बोधनका तात्पर्य शूरवीरता बतानेमें है अर्थात् अभ्यास करते हुए कभी उकताना नहीं चाहिये। अपनेमें धैर्यपूर्वक वैसी ही शूरवीरता रखनी चाहिये।

अर्जुनने पहले चञ्चलताके कारण मनका निग्रह करना बड़ा कठिन बताया। उसी बातपर भगवान् कहते हैं कि तुम जो कहते हो, वह एकदम ठीक बात है, निःसंदिग्ध बात है; क्योंकि मन बड़ा चञ्चल है और इसका निग्रह करना भी बड़ा कठिन है।

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'—यहाँ 'कौन्तेय' सम्बोधन देकर भगवान् अर्जुनको कुन्ती माताकी याद दिलाते हैं कि जैसे तुम्हारी माता कुन्ती बड़ी विरक्त है, ऐसे ही तुम भी संसारसे विरक्त होकर परमात्मामें लगो अर्थात् मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगाओ।

मनको बार-बार ध्येयमें लगानेका नाम 'अभ्यास' है। इस अभ्यासकी सिद्धि समय लगानेसे होती है। समय भी निरन्तर लगाया जाय, रोजाना लगाया जाय। कभी अभ्यास किया, कभी नहीं किया—ऐसा नहीं हो। तात्पर्य है कि अभ्यास निरन्तर होना चाहिये और अपने ध्येयमें महत्त्व तथा आदर-बुद्धि होनी चाहिये। ऐसे अभ्यास करनेसे अभ्यास दृढ़ हो जाता है।

अभ्यासके दो भेद हैं—(१) अपना जो लक्ष्य है, ध्येय है, उसमें मनोवृत्तिको लगाना और दूसरी वृत्ति आ जाय अर्थात् दूसरा

कुछ भी चिन्तन आ जाय, उसकी उपेक्षा करना, उससे उदासीन हो जाना।

(२) जहाँ-जहाँ मन चला जाय, वहाँ-वहाँ ही अपने लक्ष्यको, इष्टको देखे। जैसे, मनको एकाग्र करनेके लिये एकान्तमें बैठ जाय और यह विचार कर ले कि मैं भगवान्‌के ध्यानमें बैठा हूँ, इसलिये अब मेरा मन भगवान्‌के सिवाय और कहीं जायगा ही नहीं और मनमें भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई विषय आयेगा ही नहीं अर्थात् मनमें जो कुछ याद आयेगा, वह भगवान्‌का ही स्वरूप होगा।

उपर्युक्त दो साधनोंके सिवाय मन लगानेके कई उपाय हैं; जैसे--

१—भगवान्‌के नामका जप करे, पर जपमें दो बातोंका ख्याल रखे—एक तो नामके उच्चारणमें समय खाली न जाने दे अर्थात् 'रा····म···रा····म' इस तरह नामका भले ही धीरे-धीरे उच्चारण करे, पर बीचमें समय खाली न जाने दे और दूसरे, नामको सुने बिना न जाने दे अर्थात् जपके साथ-साथ उसको सुने भी।

२—जिस नामका उच्चारण किया जाय, मनसे उस नामकी निगरानी रखे अर्थात् उस नामको अंगुली अथवा मालासे न गिनकर मनसे ही नामका उच्चारण करे और मनसे ही नामकी गिनती करे।

३—एक नामका तो जबानसे उच्चारण करे और दूसरे नामका मनसे जप करे; जैसे—जबानसे तो 'राम-राम-राम' का उच्चारण करे और मनसे 'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण' का जप करे।

४—जैसे राग-रागिनीके साथ बोलकर नामका कीर्तन करते हैं, ऐसे ही राग-रागिनीके साथ मनसे नामका कीर्तन करे ।

५—चरणोंसे लेकर मुकुटतक और मुकुटसे लेकर चरणोंतक भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करे ।

६—भगवान् मेरे सामने खड़े हैं—ऐसा समझकर भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करे, तो भगवान्‌के दाहिने चरणकी पाँच अंगुलियोंपर मनसे ही पाँच नाम लिख दे । अंगुलियोंके ऊपरका जो भाग है, उसपर लम्बाईमें तीन नाम लिख दे । चरणोंकी पिण्डीका जो आरम्भ है, उस पिण्डीकी सन्धिपर दो नामोंके कड़े बना दे । फिर पिण्डीपर लम्बाईमें तीन नाम लिख दे । घुटनेके नीचे और ऊपर एक-एक नामका गोल कड़ा बना दे अर्थात् गोलाकार नाम लिख दे । ऊरु (जंघा) पर लम्बाईमें तीन नाम लिख दे । आधी (दाहिने तरफकी) कमरमें दो नामोंकी करधनी बना दे । तीन नाम पसलीपर लिख दे । दो नाम कन्धेपर और तीन नाम बाजू-पर (भुजाके ऊपरके भागपर) लिख दे । कोहनीके ऊपर और नीचे दो-दो नामोंका कड़ा बना दे । फिर तीन नाम (कोहनीके नीचे) पहुँचासे ऊपरके भागपर लिख दे । पहुँचामें दो नामोंका कड़ा बना दे तथा पाँच अंगुलियोंपर पाँच नाम लिख दे । गलेमें चार नामोंका आधा हार और कानमें दो नामोंका कुण्डल बना दे । मुकुटके दाहिने आधे भागपर छः नाम लिख दे अर्थात् नीचेके भागपर दो नामोंका कड़ा, मध्यभागपर दो नामोंका कड़ा और ऊपरके भाग-

पर दो नामोंका कड़ा बना दे ।

तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के दाहिने अङ्गमें चरणसे लेकर मुकुटतक चौवन नाम अथवा मन्त्र आने चाहिये और बायें अङ्गमें मुकुटसे लेकर चरणतक चौवन नाम अथवा मन्त्र आने चाहिये । इससे भगवान्‌की एक परिक्रमा हो जाती है, भगवान्‌के सम्पूर्ण अङ्गोंका चिन्तन हो जाता है और एक सौ आठ नामोंकी एक माला भी हो जाती है । प्रतिदिन ऐसी कम-से-कम एक माला करनी चाहिये । इससे अधिक करना चाहे, तो अधिक भी कर सकता है ।

इस तरह अभ्यास करनेके अनेक रूप हैं, अनेक तरीके हैं । ऐसे तरीके आप स्वयं भी सोच सकते हैं ।

अभ्यासकी सहायताके लिये 'वैराग्य'की जरूरत है । कारण कि संसारका राग जितना हटेगा, मन उतना परमात्मामें लगेगा । संसारका राग सर्वथा हटनेपर मनमें संसारका रागपूर्वक चिन्तन नहीं होगा । पुराने संस्कारोंके कारण कभी कोई स्फुरणा हो भी जाय, तो उसकी उपेक्षा कर दे अर्थात् उसमें न राग करे और न द्वेष करे । फिर वह स्फुरणा अपने-आप मिट जायगी । इस तरह अभ्यास और वैराग्यसे मनका निग्रह हो जाता है, मन पकड़ा जाता है ।

वैराग्य होनेके कई उपाय हैं; जैसे—

१—संसार प्रतिक्षण बदलता है और स्वयं कभी तथा किसी भी क्षण बदलता नहीं । इस वास्ते संसार हमारे साथ नहीं है और हम संसारके साथ नहीं हैं । जैसे, बाल्यावस्था, युवावस्था हमारे साथ

नहीं रही, परिस्थिति हमारे साथ नहीं रही, आदि। ऐसा विचार करनेपर संसारसे वैराग्य होता है।

२—अपने कहलानेवाले जितने कुटुम्बी हैं, सम्बन्धी हैं, वे हमारेसे अनुकूलताकी इच्छा रखते हैं तो अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता, समझके अनुसार उनकी न्याययुक्त इच्छा पूरी कर दे और परिश्रम करके उनकी सेवा कर दे; परन्तु उनसे अपनी अनुकूलताकी तथा कुछ लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दे। इस तरह अपनी सामर्थ्यके अनुसार चीज-वस्तु देनेसे और परिश्रम करके सेवा करनेसे पुराना राग मिट जाता है और उनसे कुछ भी न चाहनेसे नया राग पैदा नहीं होता। इससे स्वाभाविक संसारसे वैराग्य हो जाता है।

३—जितने भी दोष, पाप, दुःख पैदा होते हैं, वे सभी संसारके रागसे ही पैदा होते है और जितना सुख, शान्ति मिलती है, वह सब राग-रहित होनेसे ही मिलती है। ऐसा विचार करनेसे वैराग्य हो जाता है।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अभ्यास और वैराग्यद्वारा मनके निग्रहकी बात कहकर अब आगेके श्लोकमें भगवान् ध्यानयोगकी प्राप्तिमें अन्वय-व्यतिरेकसे अपनी सम्मति बताते हैं।

श्लोक—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

अर्थ—

जिसका मन पूरा वशमें नहीं है, उसके द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है। परन्तु उपायपूर्वक यत्न करनेवाले वश्यात्माको योग प्राप्त हो सकता है, ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या—

'असंयतात्मना योगो दुष्प्रापः'—जिसका मन पूरा वशमें नहीं है, उसके द्वारा ध्यानयोगका सिद्ध होना कठिन है। कारण कि ध्यानयोगमें मनकी चञ्चलता दूर करना विशेष आवश्यक है। जबतक मनकी चञ्चलता दूर नहीं होती, तबतक ध्यानयोगकी सिद्धि नहीं होती।

प्रायः साधकोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि वे साधन तो श्रद्धापूर्वक करते हैं, पर उनके प्रयत्नमें शिथिलता रहती है, जिससे साधकमें संयम नहीं रहता अर्थात् मन, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणका पूर्णतया संयम नहीं होता। इस वास्ते योगकी प्राप्तिमें कठिनता होती है अर्थात् परमात्मा सदा-सर्वत्र मौजूद रहते हुए भी जल्दी प्राप्त नहीं होते।

भगवान्‌की तरफ चलनेवाले, वैष्णव संस्कारवाले साधकोंकी मांस आदिमें जैसी अरुचि होती है, वैसी अरुचि साधककी विषयभोगोंमें नहीं होती अर्थात् विषयभोग उतने निषिद्ध और पतन करनेवाले नहीं दीखते। कारण कि विषयभोगोंका ज्यादा अभ्यास होनेसे उनमें मांस आदिकी तरह ग्लानि नहीं होती। मांस आदि सर्वथा निषिद्ध वस्तु खानेसे पतन तो होता ही है, पर उससे भी ज्यादा पतन होता है—रागपूर्वक विषयभोगोंको भोगनेसे। कारण कि मांस

आदिमें तो 'यह निषिद्ध वस्तु है' ऐसी भावना रहती है, पर भोगों-को भोगनेसे 'यह निषिद्ध है' ऐसी भावना नहीं रहती। इस वास्ते भोगोंके जो संस्कार भीतर बैठ जाते हैं, वे बड़े भयंकर होते हैं। तात्पर्य है कि मांस आदि खानेसे जो पाप लगता है, वह दण्ड भोगकर नष्ट हो जायगा। वह पाप आगे नये पापोंमें नहीं लगायेगा। परन्तु रागपूर्वक विषयभोगोंका सेवन करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे जन्म-जन्मान्तरतक अनर्थमें लगाते रहेंगे, विषयभोगोंमें लगाते रहेंगे।

तात्पर्य है कि साधकके अन्तःकरणमें विषयभोगोंकी रुचि रहनेके कारण ही वह संयतात्मा नहीं हो पाता, मन-इन्द्रियोंको अपने वशमें नहीं कर पाता। इस वास्ते उसको योगकी प्राप्तिमें अर्थात् ध्यानयोगकी सिद्धिमें कठिनता होती है।

'वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः'—परन्तु जो तत्परतापूर्वक साधनमें लगा हुआ है अर्थात् जो ध्यानयोगकी सिद्धिके लिये ध्यानयोगके उपयोगी आहार-विहार, सोना-जागना आदि उपायोंका अर्थात् नियमोंका नियतरूपसे और दृढ़तापूर्वक पालन करता है। जिसका मन सर्वथा वशमें है, मनपर जिसका अधिकार हो गया है अर्थात् मनको जहाँ लगाना चाहे, वहाँ लग जाय; जितनी देर लगाना चाहे, उतनी देर लग जाय और जहाँसे हटाना चाहे, वहाँसे हट जाय। ऐसे वश्यात्मा साधकके द्वारा योग प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् उसको ध्यानयोगकी सिद्धि मिल सकती है—ऐसी मेरी सम्मति है—'इति मे मतिः'।

वश्यात्मा होनेका उपाय है—सबसे पहले अपने-आपको यह समझे कि 'मैं भोगी नहीं हूँ। मै जिज्ञासु हूँ तो केवल तत्त्वको जानना ही मेरा काम है, मैं भगवान्‌का हूँ तो केवल भगवान्‌के अर्पित होना ही मेरा काम है, मैं सेवक हूँ तो केवल सेवा करना ही मेरा काम है। किसीसे कुछ भी चाहना मेरा काम नहीं है'—इस तरह अपनी अहंताका परिवर्तन कर दिया जाय तो मन बहुत जल्दी वशमें हो जाता है।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि जिसका अन्तःकरण पूरा वशमें नहीं है अर्थात् जो शिथिल प्रयत्नवाला है, उसको योगकी प्राप्तिमें कठिनता होती है। इसपर अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें प्रश्न करते हैं।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जिसकी साधनमें श्रद्धा है, पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, वह अन्तसमयमें अगर योगसे विचलितमना हो जाय, तो वह योगसिद्धिको प्राप्त न करके किस गतिको चला जाता है?

व्याख्या—

'अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः'—जिसकी साधनमें

अर्थात् जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदिमें रुचि है, श्रद्धा है और उनको करता भी है, पर अन्तःकरण और बहिःकरण वशमें न होनेसे साधनमें शिथिलता है, तत्परता नहीं है। ऐसा साधक अन्तसमयमें संसारमें राग रहनेसे, विषयोंका चिन्तन होनेसे अपने साधनसे विचलित अपने ध्येयपर स्थिर न रहे तो फिर उसकी क्या गति होती है?

'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति'—साधारण-से-साधारण प्राणीको भी अन्तसमयमें यदि भगवान्‌की याद आ जाती है, तो उसकी मुक्ति हो जाती है*, फिर साधनमें तत्पर योगीको भगवान्‌की याद आ जाय, इसमें तो सन्देह ही क्या है! परन्तु विषयासक्ति, असावधानीके कारण अन्तकालमें जिसका मन विचलित हो गया अर्थात् साधनासे हट गया और इस कारण उसको योगकी संसिद्धि—परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई तो फिर वह किस गतिको प्राप्त होता है?

तात्पर्य है कि उसने पाप करना तो सर्वथा ही छोड़ दिया था, इस वास्ते वह नरकोंमें तो जा सकता नहीं और स्वर्गकी कामना न होनेसे स्वर्गमें भी जा सकता नहीं तथा श्रद्धापूर्वक साधनमें लगा हुआ होनेसे उसका पुनर्जन्म भी हो सकता नहीं। परन्तु अन्तसमयमें परमात्माकी स्मृति न रहनेसे, दूसरा चिन्तन होनेसे उसको परमात्मा-की प्राप्ति भी नहीं हुई, तो फिर उसकी क्या गति होगी? वह कहाँ जायगा?

---

* अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८।५)

'कृष्ण' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि आप सम्पूर्ण प्राणियों-को खींचनेवाले हैं और उन प्राणियोंकी गति-अगतिको जाननेवाले हैं तथा इन गतियोंके विधायक हैं। इस वास्ते मैं आपसे पूछता हूँ कि योगसे विचलित हुए साधकको आप किधर खींचेंगे ? उसको आप कौन-सी गति देंगे ?

श्लोक—

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

अर्थ—

हे महाबाहो ! संसारके आश्रयसे रहित और परमात्म-प्राप्तिके मार्गमें मोहित अर्थात् विचलित—इस तरह दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ साधक क्या छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ?

व्याख्या—

[अर्जुनने पूर्वोक्त श्लोकमें 'कां गतिं कृष्ण गच्छति' कहकर *जो बात पूछी थी, उसीका इस श्लोकमें खुलासा पूछते हैं।*]

'अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि'—वह सांसारिक प्रतिष्ठा- (स्थिति-) से तो जानकर रहित हुआ है अर्थात् उसने संसारके सुख-आराम, आदर-सत्कार, यश-प्रतिष्ठा आदिकी कामना छोड दी है, इनको प्राप्त करनेका उसका उद्देश्य ही नहीं रहा है। इस तरह संसारका आश्रय छोड़कर वह परमात्मप्राप्तिके मार्गपर चला; पर जीवित-अवस्थामें परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई और अन्त-समयमें साधनसे विचलित हो गया अर्थात् परमात्माकी स्मृति नहीं रही।

'कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति'—ऐसा वह दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ अर्थात् सांसारिक और पारमार्थिक—दोनों उन्नतियोंसे रहित हुआ साधक छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? तात्पर्य है कि जैसे किसी बादलके टुकड़ेने अपने बादलको तो छोड़ दिया और दूसरे बादलतक वह पहुँचा नहीं, वायुके कारण बीचमें ही छिन्न-भिन्न हो गया। ऐसे ही साधकने संसारके आश्रयको तो छोड़ दिया और अन्तसमयमें परमात्माकी स्मृति नहीं रही, फिर वह नष्ट तो नहीं हो जाता? उसका पतन तो नहीं हो जाता?

बादलका दृष्टान्त यहाँ पूरा नहीं बैठता। कारण कि वह बादलका टुकड़ा जिस बादलसे चला, वह बादल और जिसके पास जा रहा था, वह बादल तथा वह स्वयं (बादलका टुकड़ा)—ये तीनों एक ही जातिके हैं अर्थात् तीनों ही जड़ हैं। परन्तु जिस साधकने संसारको छोड़ा, वह संसार और जिसकी प्राप्तिके लिये चला, वह परमात्मा तथा वह स्वयं (साधक)—ये तीनों एक जातिके नहीं हैं। इन तीनोंमें संसार जड़ है और परमात्मा तथा साधक चेतन हैं। इस वास्ते 'पहला आश्रय छोड़ दिया और दूसरा प्राप्त नहीं हुआ'—इस विषयमें ही उपर्युक्त दृष्टान्त ठीक बैठता है।

इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका आशय यह है कि साक्षात् परमात्माका अंश होनेसे जीवका अभाव तो कभी हो ही नहीं सकता। अगर इसके भीतर संसारका उद्देश्य होता, संसारका आश्रय

होता, तो यह स्वर्ग आदि लोकोंमें अथवा नरकोंमें तथा पशु-पक्षी आदि आसुरी योनियोंमें चला जाता, पर रहता तो संसारमें ही। उसने संसारका आश्रय छोड़ दिया और उसका उद्देश्य केवल परमात्मप्राप्ति हो गया, पर प्राणोंके रहते-रहते परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई और अन्तकालमें किसी कारणसे उस उद्देश्यके अनुसार साधनमें स्थिति भी नहीं रही, परमात्मचिन्तन भी नहीं रहा, तो वह वहाँसे भी भ्रष्ट हो गया। ऐसा साधक किस गतिको जायगा?

विशेष बात—

अगर इस श्लोकमें 'परमात्माकी प्राप्तिसे और साधनसे भ्रष्ट (च्युत) हुआ'—ऐसा अर्थ लिया जाय, तो ऐसा कहना यहाँ बन ही नहीं सकता। कारण कि आगे जो बादलका दृष्टान्त दिया है, वह उपर्युक्त अर्थके साथ ठीक नहीं बैठता। बादलका टुकड़ा एक बादलको छोड़कर दूसरे बादलकी तरफ चला, पर दूसरे बादलतक पहुँचनेसे पहले बीचमें ही वायुसे छिन्न-भिन्न हो गया। इस दृष्टान्तमें स्वयं बादलके टुकडेने ही पहले बादलको छोड़ा है अर्थात् अपनी पहली स्थितिको छोडा है और आगे दूसरे बादलतक पहुँचा नहीं, तभी वह उभयभ्रष्ट हुआ है। परन्तु साधकको तो अभी परमात्माकी प्राप्ति हुई ही नहीं, फिर उसको परमात्माकी प्राप्तिसे भ्रष्ट (च्युत) होना कैसे कहा जाय?

दूसरी बात, साध्यकी प्राप्ति होनेपर साधक साध्यसे कभी च्युत हो ही नहीं सकता अर्थात् किसी भी परिस्थितिमें वह साध्यसे अलग नहीं हो सकता, उसको छोड नहीं सकता। इस वास्ते

उसको साध्यसे च्युत होना कहना बनता ही नहीं। हाँ, अन्तसमय-में स्थित न रहनेसे, परमात्माकी स्मृति न रहनेसे उसको 'साधनभ्रष्ट' तो कह सकते हैं, पर 'उभयभ्रष्ट' नहीं कह सकते। इस वास्ते यहाँ बादलके दृष्टान्तके अनुसार वही उभयभ्रष्ट लेना युक्तिसंगत बैठता है, जिसने संसारके आश्रयको जानकर ही अपनी ओरसे छोड़ दिया और परमात्माकी प्राप्तिके लिये चला, पर अन्तसमय-में किसी कारणसे परमात्माकी याद नहीं रही, साधनसे विचलितमना हो गया। इस तरह संसार और साधन—दोनोंमें उसकी स्थिति न रहनेसे ही वह उभयभ्रष्ट हुआ है। अर्जुनने भी सैंतीसवें श्लोकमें 'योगाच्चलितमानसः' कहा है और इस (अड़तीसवें) श्लोकमें 'अप्रतिष्ठः', 'विमूढो ब्रह्मणः पथि' और 'छिन्नाभ्रमिव' कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि उसने संसारको छोड़ दिया और परमात्मा-की प्राप्तिके साधनसे विचलित हो गया, मोहित हो गया।

सम्बन्ध—

पूर्वोक्त सन्देहको दूर करनेके लिये *अर्जुन आगेके श्लोकमें भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं।*

श्लोक—

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ

हे कृष्ण! मेरे इस सन्देहका सर्वथा छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं; क्योंकि इस संशयका छेदन करनेवाला आपके सिवाय दूसरा कोई हो नहीं सकता।

व्याख्या—

'एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः'—परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेसे साधक पापकर्मोंसे तो सर्वथा रहित हो गया, इस वास्ते वह नरकोंमें तो जा ही नहीं सकता और स्वर्गका ध्येय न रहनेसे स्वर्गमें भी जा नहीं सकता। मनुष्ययोनिमें आनेका उसका उद्देश्य नहीं है, इस वास्ते वह उसमें भी नहीं आ सकता और परमात्मप्राप्तिके साधनसे भी विचलित हो गया। ऐसा साधक क्या छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? यह मेरा संशय है।

'त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते'—इस संशयका सर्वथा छेदन करनेवाला अन्य कोई हो नहीं सकता। इसका तात्पर्य है कि शास्त्रकी कोई गुत्थी हो, शास्त्रका कोई गहन विषय हो, कोई ऐसी कठिन पंक्ति हो, जिसका अर्थ न लगता हो, तो उसको शास्त्रोंका ज्ञाता कोई विद्वान् ही समझा सकता है। परन्तु योगभ्रष्टकी क्या गति होती है? इसका उत्तर वह नहीं दे सकता। हाँ, योगी कुछ हदतक जान सकता है, पर वह सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति-अगतिको नहीं जान सकता; क्योंकि वह 'युञ्जान योगी' है अर्थात् अभ्यास करके योगी बना है। इस वास्ते वह वहींतक जान सकता है जितनी उसकी जाननेकी हद है। परन्तु आप तो 'युक्त योगी' हैं अर्थात् आप बिना अभ्यास, परिश्रमके सर्वत्र सब कुछ जान लेते हैं। आपके समान जानकार कोई हो सकता ही नहीं। आप साक्षात् भगवान् हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति-

अगतिको जाननेवाले हैं* । इस वास्ते इस योगभ्रष्टकी गति-विषयक प्रश्नका उत्तर आप ही दे सकते हैं । आप ही मेरे इस संशयको दूर कर सकते हैं ।

सम्बन्ध—

अड़तीसवें श्लोकमें अर्जुनने शङ्का की थी कि संसारसे और साधनसे च्युत हुए साधकका कहीं पतन तो नहीं हो जाता? उसका समाधान करनेके लिये भगवान् आगेका श्लोक कहते हैं ?

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन ! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही विनाश होता है; क्योंकि हे प्यारे ! कल्याण-कारी काम करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको नहीं जाता ।

व्याख्या—

[गीताभरमें अर्जुनने प्रश्नके रूपमें तीन श्लोक केवल यहीं कहे हैं । अर्जुन प्रायः हरेक जगह इतना नहीं बोलते । यहाँ इतना ज्यादा बोलनेका तात्पर्य है कि जिसको अन्तकालमें परमात्माका स्मरण नहीं होता, उसका कहीं पतन तो नहीं हो जाता—इस बातको लेकर अर्जुनके हृदयमें बहुत व्याकुलता है । यह

* उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

व्याकुलता भगवान्‌से छिपी नहीं है। इस वास्ते भगवान् अर्जुनके 'कां गतिं कृष्ण गच्छति'—इस प्रश्नका उत्तर देनेसे पहले ही अर्जुनके हृदयकी व्याकुलता दूर करते हैं।]

'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते'—हे पृथानन्दन! जो साधक अन्तसमयमें किसी कारणवश योगसे, साधनसे विचलित हो गया है, वह योगभ्रष्ट साधक मरनेके बाद चाहे इस लोकमें जन्म ले, चाहे परलोकमें जन्म ले, उसका पतन नहीं होता। तात्पर्य है कि उसकी योगमें जितनी स्थिति बन चुकी है, उससे नीचे वह नहीं गिरता। उसकी साधन-सामग्री नष्ट नहीं होती। उसका पारमार्थिक उद्देश्य नहीं बदलता। जैसे अनादिकालसे वह जन्मता-मरता रहता है, ऐसे ही वह भी जन्मता-मरता रहे—उसका यह पतन नहीं होता। अगर वह किसी वासनाके कारण स्वर्गादि भोग-भूमियोंमें भी जन्म लेगा, तो वहाँके भोगोंको भोगनेसे उसकी भोगोंसे अरुचि हो जायगी, जिससे उसका उत्थान ही होगा (गीता ६। ४१); अथवा वह इस लोकमें भी जन्म लेगा, तो यहाँ भी पूर्वजन्मकृत साधन-सामग्रीके बलसे जबर्दस्ती परमात्माकी तरफ खिंच जायगा (गीता ६। ४४)। इस तरह यहाँ भी और वहाँ भी उसका पतन नहीं होगा।

जैसे, भरत मुनि भारतवर्षका राज्य छोड़कर एकान्तमें तप करते थे। वहाँ दयापरवश होकर वे हरिणके बच्चेमें आसक्त हो गये, जिससे दूसरे जन्ममें उनको हरिण बनना पड़ा। परन्तु उन्होंने जितना त्याग, तप किया था, उनकी जितनी साधनकी पूँजी

इकट्ठी हुई थी, वह उस हरिणके जन्ममें भी नष्ट नहीं हुई। उनको हरिणके जन्ममें भी पूर्वजन्मकी बात याद थी, जो कि मनुष्यजन्ममें भी नहीं रहती! इस वास्ते वे (हरिण-जन्ममें) बचपनसे ही अपनी माँके साथ नहीं रहे। वे हरे पत्ते न खाकर सूखे पत्ते खाते थे। तात्पर्य है कि अपनी स्थितिसे न गिरनेके कारण हरिणके जन्ममें भी उनका पतन नहीं हुआ (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अध्याय ७-८)। इसी तरहसे पहले मनुष्यजन्ममें जिनका स्वभाव सेवा करनेका, जप-ध्यान करनेका रहा है और विचार अपना उद्धार करनेका रहा है, वे किसी कारणवश अन्तसमयमें योगभ्रष्ट हो जायँ तथा इस लोकमें पशु-पक्षी भी बन जायँ, तो भी उनका वह अच्छा स्वभाव और सत्संस्कार नष्ट नहीं होते। ऐसे बहुत-से उदाहरण आते हैं कि कोई दूसरे जन्ममें हाथी, ऊँट आदि बन गये, पर उन योनियोंमें भी वे भगवान्‌की कथा सुनते थे। एक जगह कथा होती थी, तो एक काला कुत्ता आकर वहाँ बैठता और कथा सुनता। जब कीर्तन करते हुए कीर्तन-मण्डली घूमती, तो उस मण्डलीके साथ वह कुत्ता भी घूमता था। यह हमारी देखी हुई बात है।

'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति'— भगवान्‌ने इस श्लोकके पूर्वार्धमें अर्जुनके लिये 'पार्थ' सम्बोधन दिया, जो आत्मीय-सम्बन्धका द्योतक है। अर्जुनके सब नामोंमें भगवान्‌को यह 'पार्थ' नाम बहुत प्यारा था। अब उत्तरार्धमें उससे भी अधिक प्यारभरे शब्दोंमें कहते हैं कि 'हे तात! कल्याणकारी कार्य

करनेवालेकी दुर्गति नहीं होती।' यह 'तात' सम्बोधन गीताभरमें एक ही बार आया है, जो अत्यधिक प्यारका द्योतक है।

इस श्लोकमें भगवान्ने मात्र साधकके लिये बहुत आश्वासनकी बात कही है कि कोई भी कल्याणकारी काम करनेवाला है अर्थात् किसी भी साधनसे सच्चे हृदयसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करना चाहता है, ऐसे किसी भी साधककी दुर्गति नहीं होती।

उसकी दुर्गति नहीं होती—यह कहनेका तात्पर्य है कि जो मनुष्य कल्याणकारी कार्यमें लगा हुआ है अर्थात् जिसके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उस अपने असली काममें लगा हुआ है तथा सांसारिक भोग और संग्रहमें आसक्त नहीं है, वह चाहे किसी मार्ग-से चले, उसकी दुर्गति नहीं होती। कारण कि उसका ध्येय चिन्मय-तत्त्व मैं (परमात्मा) हूँ; इस वास्ते उसका पतन नहीं होता। उसकी रक्षा मैं करता ही रहता हूँ, फिर उसकी दुर्गति कैसे हो सकती है ?

मेरी दृष्टि स्वतः प्राणिमात्रके हितमें रहती है। जो मनुष्य मेरी तरफ चलता है, अपना परमहितके लिये उद्योग करता है, वह मेरेको बहुत प्यारा लगता है; क्योंकि वास्तवमें वह मेरा ही अंश है, संसारका नहीं। उसका वास्तविक सम्बन्ध मेरे साथ ही है। संसारके साथ उसका वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। उसने मेरे साथ इस वास्तविक सम्बन्धको, असली लक्ष्यको पहचान लिया, तो फिर उसकी दुर्गति कैसे हो सकती है ? उसका किया हुआ साधन भी नष्ट कैसे हो सकता है ? हाँ, कभी-कभी देखनेमें वह मोहित हुआ-

सा दीखता है, उसका साधन छूटा हुआ-सा दीखता है; परन्तु ऐसी परिस्थिति उसके अभिमानके कारण ही उसके सामने आती है। मैं भी उसको चेतानेके लिये, उसका अभिमान दूर करनेके लिये ऐसी घटना घटा देता हूँ, जिससे वह व्याकुल हो जाता है और मेरी तरफ तेजीसे चल पड़ता है। जैसे, गोपियोंका अभिमान (मद) देखकर मैं रासमें ही अन्तर्धान हो गया, तो सब गोपियाँ घबरा गयीं। जब वे विशेष व्याकुल हो गयीं, तो मैं उन गोपियोंके समुदाय-के बीचमें ही प्रकट हो गया और उनके पूछनेपर मैंने कहा—'मया परोक्षं भजता तिरोहितम्'—(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २१) अर्थात् तुमलोगोंका भजन करता हुआ ही मैं अन्तर्धान हुआ था। तुमलोगोंकी याद और तुमलोगोंका हित मेरेसे छूटा नहीं है। इस प्रकार मेरे हृदयमें साधन करनेवालोंका बहुत बड़ा स्थान है। इसका कारण यह है कि अनन्त जन्मोंसे भूला हुआ यह प्राणी जब केवल मेरी तरफ लगता है, तो वह मेरेको बहुत प्यारा लगता है; क्योंकि उसने अनेक योनियोंमें बहुत दुःख पाया है और अब वह सन्मार्ग-पर आ गया है। जैसे माता अपने छोटे बच्चेकी रक्षा, पालन और हित करती रहती है, ऐसे ही मैं उस साधकके साधन और उसके हितकी रक्षा करते हुए उसके साधनकी वृद्धि करता रहता हूँ।

तात्पर्य यह हुआ कि जिसके भीतर एक बार साधनके संस्कार पड़ गये हैं, वे संस्कार फिर कभी नष्ट नहीं होते। कारण कि उस परमात्माके लिये जो काम किया जाता है, वह 'सत्' हो जाता

है—'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते' (गीता १७ । २७) अर्थात् उसका अभाव नहीं होता— 'नाभावो विद्यते सतः' (गीता २ । १६)। इसी बातको भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि कल्याणकारी काम करनेवाले किसी भी मनुष्यकी दुर्गति नहीं होती। उसके जितने सद्भाव बने हैं, जैसा स्वभाव बना है, वह प्राणी किसी कारणवशात् किसी भी योनिमें चला जाय* अथवा किसी भी परिस्थितिमें पड़ जाय, तो भी वे सद्भाव उसका कल्याण करके ही छोड़ेंगे। अगर वह किसी कारणसे किसी नीच योनिमें भी चला जाय, तो वहाँ भी अपने सजातीय योनिवालोंकी अपेक्षा उसके स्वभावमें फर्क रहेगा।

यद्यपि यहाँ अर्जुनका प्रश्न मरनेके बादकी गतिका है, तथापि परमात्माकी तरफ लगानेका बड़ा भारी माहात्म्य है—इस बातको बतानेके लिये यहाँ 'इह' पदसे 'इस जीवित अवस्थामें भी पतन नहीं होता'—ऐसा अर्थ भी लिया जा सकता है। ऐसा अर्थ लेनेसे यह शङ्का भी हो सकती है कि अजामिल-जैसा शुद्ध ब्राह्मण भी वेश्यागामी हो गया, बिल्वमङ्गल भी चिन्तामणि नामकी वेश्याके वशमें हो गये, तो इनका इस जीवित-अवस्थामें ही पतन कैसे हो गया? इसका समाधान यह है कि लोगोंको तो उनका पतन हो गया—ऐसा दीखता है, पर वास्तवमें उनका पतन

* जिसका स्वभाव अच्छा बन गया है, जिसके भीतर सद्भाव हैं, वह किसी नीच योनिमें साँप, बिच्छू आदि नहीं बन सकता। कारण कि उसका स्वभाव साँप, बिच्छू आदि योनियोंके अनुरूप नहीं है और वह उन योनियोंके अनुरूप काम भी नहीं कर सकता।

नहीं हुआ है; क्योंकि अन्तमें उनका उद्धार ही हुआ है। अजामिल-को लेनेके लिये भगवान्‌के पार्षद आये और बिल्वमङ्गल भगवान्‌के भक्त बन गये। इस प्रकार वे पहले भी सदाचारी थे और अन्तमें भी उनका उद्धार हो गया, केवल बीचमें ही उनकी दशा अच्छी नहीं रही। तात्पर्य यह हुआ कि किसी कुसङ्गसे, किसी विघ्न-बाधासे, किसी असावधानीसे उसके भाव और आचरण गिर सकते हैं और 'मैं कौन हूँ, मैं क्या कर रहा हूँ, मेरेको क्या करना चाहिये'—ऐसी विस्मृति होकर वह संसारके प्रवाहमें बह सकता है। परन्तु पहलेकी साधनावस्थामें वह जितना साधन कर चुका है, उसका संसारके साथ जितना सम्बन्ध टूट चुका है, उतनी पूँजी तो उसकी वैसी-की-वैसी ही रहती है अर्थात् वह कभी किसी अवस्थामें छूटती नहीं, प्रत्युत उसके भीतर सुरक्षित रहती है। उसको जब कभी अच्छा संग मिलता है अथवा कोई बड़ी आफत आती है, तो वह भीतरका भाव प्रकट हो जाता है और वह भगवान्‌की ओर तेजीसे लग जाता है*। हाँ, साधनमें बाधा पड़ जाना, भाव और आचरणोंका गिरना तथा परमात्मप्राप्तिमें देरी लगना—इस दृष्टिसे तो उसका पतन हुआ ही है। इस वास्ते उपर्युक्त उदाहरणोंसे साधकको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हमें हर समय सावधान रहना है, जिससे हम कहीं कुसंगमें न पड़ जायँ, कहीं विषयोंके वशीभूत होकर अपना साधन न छोड़ दें और कहीं विपरीत कामोंमें न चले जायँ।

* बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥
(मानस १।२।५)

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको आश्वासन दिया कि किसी भी साधकका पतन नहीं होता और वह दुर्गतिमें नहीं जाता। अब भगवान् आगेके श्लोकमें अर्जुनद्वारा सैंतीसवें श्लोकमें किये गये प्रश्नके अनुसार योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

अर्थ—

वह योगभ्रष्ट पुण्यकर्म करनेवालोंके लोकोंको प्राप्त होकर और वहाँ बहुत वर्षोंतक रहकर फिर यहाँ शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है।

व्याख्या—

'प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्'—जो लोग शास्त्रीय विधि-विधानसे यज्ञ आदि कर्मोंको साङ्गोपाङ्ग करते हैं, उन लोगोंका स्वर्गादि लोकोंपर अधिकार है, इस वास्ते उन लोगोंको यहाँ 'पुण्यकर्म करनेवालोंके लोक' कहा गया है। तात्पर्य है कि उन लोकोंमें पुण्यकर्म करनेवाले ही जाते हैं, पापकर्म करनेवाले नहीं। परन्तु जिनको पुण्यकर्मोंके फलरूप सुख भोगनेकी इच्छा नहीं है, उनको वे स्वर्गादि लोक बिना दाममें और मुफ्तमें मिलते हैं! तात्पर्य है कि यज्ञादि शुभ कर्म करनेवालोंको परिश्रम करना पड़ता है, उन लोकोंकी याचना—प्रार्थना करनी पड़ती है, यज्ञादि कर्मोंको

विधि-विधानसे और साङ्गोपाङ्ग करना पड़ता है, तब कहीं उनको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है। वहाँ भी उनकी भोगोंकी वासना बनी रहती है, क्योंकि उनका उद्देश्य ही भोग भोगनेका था। परंतु जो किसी कारणवश अन्तसमयमें साधनसे विचलितमना हो जाते हैं, उनको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिके लिये न तो परिश्रम करना पड़ता है, न उनकी याचना करनी पड़ती है और न उनकी प्राप्तिके लिये यज्ञादि शुभ कर्म ही करने पड़ते हैं। फिर भी उनको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति हो जाती है। वहाँ रहनेपर भी उनकी वहाँके भोगोंसे अरुचि हो जाती है, क्योंकि उनका उद्देश्य भोग भोगनेका था ही नहीं। वे तो केवल सांसारिक मलिन वासनाके कारण उन लोकोंमें जाते हैं। परन्तु उनकी वह वासना भोगी पुरुषोंकी वासनाके समान नहीं होती।

जो केवल भोग भोगनेके लिये स्वर्गमें जाते हैं, वे जैसे भोगोंमें तल्लीन होते हैं, वैसे योगभ्रष्ट तल्लीन नहीं हो सकता। कारण कि भोगोंकी इच्छावाले पुरुष भोगबुद्धिसे भोगोंको स्वीकार करते हैं और योगभ्रष्टको विघ्नरूपसे भोगोंमें जाना पड़ता है।

'उषित्वा शाश्वतीः समाः'—यज्ञादि शुभ कर्म करनेवाले तो स्वर्ग आदिमें सीमित वर्षोंतक ही वहाँ रह सकते हैं। वहाँ उनके पुण्य नष्ट हो जाते हैं, तो उनको लौटकर मृत्युलोकमें आना पड़ता है—'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९। २१)। परन्तु योगभ्रष्ट असीम वर्षोंतक वहाँ रहता है अर्थात् उसके लिये वहाँ रहनेकी कोई सीमा

नहीं होता। वहाँ उसके पुण्य भी नष्ट नहीं होते और वहाँसे लौटनेपर वह मृत्युलोकमें शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है।

स्वर्ग आदिका सुख भोगनेके उद्देश्यसे जो उन लोकोंमें जाते हैं, उनको न तो वहाँ रहनेमें स्वतन्त्रता है और न वहाँसे आनेमें ही स्वतन्त्रता है। उन्होंने भोग भोगनेके उद्देश्यसे ही यज्ञादि कर्म किये हैं, इस वास्ते उन शुभ कर्मोंका फल जबतक समाप्त नहीं होता, तबतक वे वहाँसे नीचे नहीं आ सकते और शुभ कर्मोंका फल समाप्त होनेपर वे वहाँ रह भी नहीं सकते। परन्तु जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही साधन करनेवाले हैं और केवल अन्त-समयमें योगसे विचलित होनेके कारण स्वर्ग आदिमें गये हैं, उनका वासनाकी तारतम्यताके कारण वहाँ ज्यादा-कम रहना हो सकता है, पर वे वहाँके भोगोंमें फँस नहीं सकते। कारण कि जब योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है (६ । ४४), फिर यह योगभ्रष्ट वहाँ फँस ही कैसे सकता है !

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते'—स्वर्गादि लोकोंके भोग भोगनेपर जब भोगोंसे अरुचि हो जाती है तो वह योगभ्रष्ट लौटकर मृत्युलोकमें आता है और शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। उसके फिर लौटकर आनेमें क्या कारण है ? वास्तवमें इसका कारण तो भगवान् ही जानें; किन्तु गीतापर विचार करनेसे हमें ऐसा दीखता है कि वह मनुष्यजन्ममें साधन करता रहा। वह साधनको छोड़ना नहीं चाहता था, पर अन्त-समयमें साधन छूट गया। अतः उस साधनका जो महत्त्व

विमुख होकर साधनमें लगा हुआ है, वह भी किसी कारणसे, किसी परिस्थितिसे तत्काल मर जाय और उसकी वृत्ति अन्तसमयमें साधनमें न रहे, तो वह भी योगभ्रष्ट हो जाता है। ऐसे योगभ्रष्टकी गतिको मैं यहाँ 'अथवा' करके कह रहा हूँ।

'योगिनामेव कुले भवति धीमताम्'—जो परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी बुद्धि परमात्मतत्त्वमें स्थिर हो गयी है, ऐसे तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें वह वैराग्यवान् योगभ्रष्ट जन्म लेता है।

'कुले' कहनेका तात्पर्य है कि उसका जन्म साक्षात् जीवन्मुक्त योगी महापुरुषके कुलमें ही होता है; क्योंकि श्रुति कहती है कि उस ब्रह्मज्ञानीके कुलमें कोई भी ब्रह्मज्ञानसे रहित नहीं होता अर्थात् सब ब्रह्मज्ञानी ही होते हैं—'नास्याब्रह्मवित् कुले भवति' (मुण्डक० ३। २। ९)।

'एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्'—उसका यह इस प्रकारका योगियोंके कुलमें जन्म होना इस लोकमें बहुत ही दुर्लभ है। तात्पर्य है कि शुद्ध सात्त्विक राजाओंके, धनवानोंके और प्रसिद्ध गुणवानोंके घरमें जन्म होना भी दुर्लभ माना जाता है, पुण्यका फल माना जाता है; फिर तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त योगी महापुरुषोंके यहाँ जन्म होना तो दुर्लभ-तर—बहुत ही दुर्लभ है! कारण कि उन योगियोंके कुलमें, घरमें स्वाभाविक ही पारमार्थिक वायुमण्डल रहता है। वहाँ सांसारिक भोगोंकी चर्चा ही नहीं होती। इस वास्ते वहाँके वायुमण्डलसे, दृश्यसे, तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके सङ्गसे, अच्छी शिक्षा आदिसे उसके लिये साधनमें लगना

बहुत सुगम हो जाता है और वह बचपनसे ही साधनमें लग जाता है। इस वास्ते ऐसे योगियोंके कुलमें जन्म लेनेको दुर्लभतर बताया गया है।

विशेष बात

यहाँ 'एतत्' और 'ईदृशम्'—ये दो पद आये हैं। 'एतत्' पदसे तो तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट समझना चाहिये (जिसका इस श्लोकमें वर्णन हुआ है) और 'ईदृशम्' पदसे उन तत्त्वज्ञ योगी महापुरुषोंके सङ्गका अवसर जिसको प्राप्त हुआ है—इस प्रकारका साधक समझना चाहिये।

संसारमें दो प्रकारकी प्रजा मानी जाती है—बिन्दुज और नादज। जो माता-पिताके रज-वीर्यसे पैदा होते हैं, वे 'बिन्दुज' कहलाते हैं और जो महापुरुषोंके नादसे अर्थात् शब्दसे, उपदेशसे पारमार्थिक मार्गमें लग जाते हैं, वे 'नादज' कहलाते हैं।

गीताके दसवें अध्यायमें सप्तर्षियों, सनकादिकों और मनुओंकी यह सब प्रजा बतायी गयी है*। इनमें सप्तर्षियों और चौदह मनुओंने तो ब्याह किया था, इस वास्ते उनसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा 'बिन्दुज प्रजा' है। परन्तु सनकादिकोंने ब्याह किया ही नहीं, इस वास्ते उनसे उपदेश प्राप्त करके पारमार्थिक मार्गमें लगनेवाली प्रजा 'नादज प्रजा' है। यहाँ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट 'बिन्दुज' है, और तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंका

---

* महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
(गीता १० । ६)

सङ्गप्राप्त साधक 'नादज' है। इन दोनों ही साधकोंको ऐसा जन्म और सङ्ग मिलना बड़ा दुर्लभ है।

शास्त्रोंमें मनुष्यजन्मको दुर्लभ बताया है, पर मनुष्यजन्ममें महापुरुषोंका सङ्ग मिलना और भी दुर्लभ है*। नारदजी अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं—'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च' अर्थात् महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ है, अगम्य है और अमोघ है। कारण कि एक तो उनका सङ्ग मिलना कठिन है और भगवान्‌की कृपासे ऐसा सङ्ग मिल भी जाय† तो उन महापुरुषोंको पहचानना कठिन है। परन्तु उनका सङ्ग किसी भी तरहसे मिल जाय, वह कभी निष्फल नहीं जाता। तात्पर्य है कि महापुरुषोंका सङ्ग मिलनेकी दृष्टिसे ही उपर्युक्त दोनों साधकोंको 'दुर्लभतर' बताया गया है।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने वैराग्यवान् योगभ्रष्टका तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म होना बताया। अब वहाँ जन्म होनेके बाद क्या होता है—यह बात आगेके श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

---

* दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥
(श्रीमद्भा० ११। २। २९)

† जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये।
(विनयपत्रिका १३६। १०)

अर्थ—

हे कुरुनन्दन ! वहाँपर उसको पूर्वजन्मकृत साधन-सम्पत्ति अनायास ही प्राप्त हो जाती है। उससे वह साधनकी सिद्धिके विषयमें पुनः विशेषतासे यत्न करता है।

व्याख्या—

'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्'—तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके कुलमें जन्म होनेके बाद उस वैराग्यवान् साधककी क्या दशा होती है ? इस बातको बतानेके लिये यहाँ 'तत्र' पद आया है।

'पौर्वदेहिकम्' तथा **'बुद्धिसंयोगम्'** पदोंका तात्पर्य है कि उस संसारसे विरक्त साधकको स्वर्ग आदि लोकोंमें नहीं जाना पड़ता, उसका तो सीधे योगियोंके कुलमें जन्म होता है। वहाँ उसको अनायास ही पूर्वजन्मकी साधन-सामग्री मिल जाती है। जैसे, किसीको रास्तेपर चलते-चलते नींद आने लगी और वह वहीं किनारेपर सो गया। जब वह सोकर उठेगा, तो उतना रास्ता उसका तय किया हुआ ही रहेगा; अथवा किसीने व्याकरणका प्रकरण पढ़ा और बीचमें कई वर्ष पढ़ना छूट गया। जब वह फिरसे पढ़ने लगता है, तो उसका पहले पढ़ा हुआ प्रकरण बहुत जल्दी तैयार हो जाता है, याद हो जाता है। ऐसे ही पूर्वजन्ममें उसका जितना साधन हो चुका है, जितने अच्छे संस्कार पड़ चुके हैं, वे सभी इस जन्ममें प्राप्त हो जाते हैं, जाग्रत् हो जाते हैं।

'यतते च ततो भूयः संसिद्धौ'—एक तो वहाँ उसको पूर्वजन्मकृत बुद्धिसंयोग मिल जाता है और वहाँका सङ्ग अच्छा

होनेसे साधनकी अच्छी बातें मिल जाती हैं, साधनकी युक्तियाँ मिल जाती हैं। ज्यों-ज्यों नयी युक्तियाँ मिलती हैं, त्यों-त्यों उसका साधनमें उत्साह बढ़ता है। इस तरह वह सिद्धिके लिये विशेष तत्परतासे यत्न करता है।

अगर इस प्रकरणका अर्थ ऐसा लिया जाय कि ये दोनों ही प्रकारके योगभ्रष्ट पहले स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं। उनमेंसे जिसमें भोगोंकी वासना रही है, वह तो शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है, और जिसमें भोगोंकी वासना नहीं है, वह योगियोंके कुलमें जन्म लेता है, तो प्रकरणके पदोंपर विचार करनेसे यह बात ठीक नहीं बैठती। कारण कि ऐसा अर्थ लेनेसे 'योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवालेको पौर्वदेहिक बुद्धिसंयोग अर्थात् पूर्वजन्मकृत साधन-सामग्री मिल जाती है'—यह कहना नहीं बनेगा। यहाँ 'पौर्वदेहिक' कहना तभी बनेगा, जब बीचमें दूसरे शरीरका व्यवधान न हो। अगर ऐसा मानें कि स्वर्गादि लोकोंमें जाकर फिर वह योगियोंके कुलमें जन्म लेता है, तो उसको 'पूर्वाभ्यास' कह सकते हैं (जैसा कि श्रीमानोंके घर जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टके लिये आगेके श्लोकमें कहा है), पर 'पौर्वदेहिक' नहीं कह सकते। कारण कि उसमें स्वर्गादिका व्यवधान पड़ जायगा और स्वर्गादि लोकोंके देहको पौर्वदेहिक बुद्धिसंयोग नहीं कह सकते; क्योंकि उन लोकोंमें भोग-सामग्रीकी बहुलता होनेसे वहाँ साधन बननेका प्रश्न ही नहीं है। इस वास्ते वे दोनों योगभ्रष्ट स्वर्गादिमें जाकर आते हैं—यह कहना प्रकरणके अनुसार ठीक नहीं बैठता।

दूसरी बात, जिसमें भोगोंकी वासना है, उसका तो स्वर्ग आदिमें जाना ठीक है; परन्तु जिसमें भोगोंकी वासना नहीं है और जो अन्तसमयमें किसी कारणवश साधनसे विचलित हो गया है, ऐसे साधकको स्वर्ग आदिमें भेजना तो उसको दण्ड देना है जो कि सर्वथा अनुचित है।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने यह बताया कि तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवालेको पूर्वजन्मकृत बुद्धिसयोग प्राप्त हो जाता है और वह साधनमें तत्परतासे लग जाता है। अब शुद्ध श्रीमानों-के घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टकी क्या दशा होती है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

अर्थ—

वह (श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला) योगभ्रष्ट पुरुष भोगो-के परवश होता हुआ भी पूर्वजन्ममें किये हुए अभ्यास (साधन-) के कारण ही परमात्माकी तरफ खिंच जाता है; क्योंकि योग-(समता-) का जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अति-क्रमण कर जाता है, उनसे ऊँचा उठ जाता है।

व्याख्या—

'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः'—योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टको जैसी साधनकी सुविधा मिलती

है, जैसा वायुमण्डल मिलता है, जैसा सङ्ग मिलता है, जैसी शिक्षा मिलती है, वैसी साधनकी सुविधा, वायुमण्डल, सङ्ग, शिक्षा आदि श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवालोंको नहीं मिलती। परन्तु स्वर्गादि लोकोंमें जानेसे पहले मनुष्यजन्ममें जितना योगका साधन किया है, सांसारिक भोगोंका त्याग किया है, उसके अन्तःकरणमें जितने अच्छे संस्कार पड़े हैं, उस मनुष्य-जन्ममें किये हुए अभ्यासके कारण ही भोगोंमें आसक्त होता हुआ भी वह परमात्माकी तरफ जबर्दस्ती खिंच जाता है।

'अवशोऽपि' कहनेका तात्पर्य है कि वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेसे पहले बहुत वर्षोंतक स्वर्गादि लोकोंमें रहा है। वहाँ उसके लिये भोगोंकी बहुलता रही है और यहाँ (साधारण घरोंकी अपेक्षा) श्रीमानोंके घरमें भी भोगोंकी बहुलता है। उसके मनमें जो भोगोंकी आसक्ति है, वह भी अभी सर्वथा मिटी नहीं है। इस वास्ते वह भोगोंके परवश हो जाता है। परवश होनेपर भी अर्थात् इन्द्रियाँ, मन आदिका भोगोंकी तरफ आकर्षण होते रहनेपर भी पूर्वके अभ्यास आदिके कारण वह जबर्दस्ती परमात्माकी तरफ खिंच जाता है। कारण यह है कि भोग-वासना कितनी ही प्रबल क्यों न हो, पर वह है 'असत्' ही। उसका जीवके सत्-स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जितना ध्यानयोग आदि साधन किया है, साधनके जितने संस्कार हैं, वे कितने ही साधारण क्यों न हों, पर वे हैं 'सत्' ही। वे सभी जीवके सत्-स्वरूपके अनुकूल हैं। इस वास्ते वे संस्कार भोगोंके परवश हुए योगभ्रष्टको भीतरसे खींचकर परमात्माकी तरफ लगा ही देते हैं।

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'—इस प्रकरणमें अर्जुनका प्रश्न था कि साधनमें लगा हुआ शिथिल प्रयत्नवाला साधक अन्तसमयमें योगसे विचलित हो जाता है, तो वह योगकी संसिद्धिको प्राप्त न होकर किस गतिको जाता है अर्थात् उसका कहीं पतन तो नहीं हो जाता ? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने इस लोकमें और परलोकमें योगभ्रष्टका पतन न होनेकी बात इस श्लोकके पूर्वार्धतक कही । अब इस श्लोकके उत्तरार्धमें योगमें लगे हुए योगीकी वास्तविक महिमा कहनेके लिये योगके जिज्ञासुकी महिमा कहते हैं ।

जब योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्म और उनके फलोंका अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् उनसे ऊपर उठ जाता है, फिर योगभ्रष्टके लिये तो कहना ही क्या है ! अर्थात् उसके पतनकी कोई शङ्का ही नहीं है । वह योगमें प्रवृत्त हो चुका है, इस वास्ते उसका तो अवश्य उद्धार होगा ही ।

यहाँ 'जिज्ञासुरपि योगस्य' पदोंका अर्थ होता है कि जो अभी योगभ्रष्ट भी नहीं हुआ है और योगमें प्रवृत्त भी नहीं हुआ है; परन्तु जो योग-(समता-) को महत्त्व देता है और उसको प्राप्त करना चाहता है—ऐसा योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मको* अर्थात् वेदोंके सकाम-कर्म भागका अतिक्रमण कर जाता है ।

* वेदोंमें जो भाग साधन-सामग्रीका है, उसको इस 'शब्दब्रह्म' के अन्तर्गत नहीं लेना चाहिये ।

योगका जिज्ञासु वह है, जो भोग और संग्रहको साधारण लोगोंकी तरह महत्त्व नहीं देता, प्रत्युत उनकी उपेक्षा करके योगको अधिक महत्त्व देता है। उसकी भोग और संग्रहकी रुचि मिटी नहीं है, पर सिद्धान्तसे योगको ही महत्त्व देता है। इस वास्ते वह योगारूढ़ तो नहीं हुआ है, पर योगका जिज्ञासु है, योगको प्राप्त करना चाहता है। इस जिज्ञासामात्रका यह माहात्म्य है कि वह वेदोंमें कहे सकाम कर्मोंसे और उनके फलसे ऊँचा उठ जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि जो यहाँके भोगोंकी और संग्रहकी रुचि सर्वथा मिटा न सके और तत्परतासे योगमें भी न लग सके, उसकी भी इतनी महत्ता है, तो फिर योगभ्रष्टके विषयमें तो कहना ही क्या है! ऐसी ही बात भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें कही है कि योग-(समता-) का आरम्भ भी नष्ट नहीं होता, और उसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है*। फिर जो योगमें प्रवृत्त हो चुका है, उसका पतन कैसे हो सकता है? उसका तो कल्याण होगा ही, इसमें सन्देह ही नहीं है।

विशेष बात—

'योगभ्रष्ट' बहुत विशेषतावाले पुरुषका नाम है। कैसी विशेषता? कि मनुष्योंमें हजारों और हजारोंमें कोई एक सिद्धिके

---

* नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(गीता २। ४०)

लिये यत्न करता है* तथा सिद्धिके लिये यत्न करनेवाला ही योग-भ्रष्ट होता है।

योगमें लगनेवालेकी बडी महिमा है। इस योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मको अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचे ब्रह्मलोक आदि लोकोंसे भी उसकी अरुचि हो जाती है। कारण कि ब्रह्मलोक आदि सभी पुनरावर्ती हैं और वह अपुनरावर्ती चाहता है। जब योगकी जिज्ञासामात्र होनेकी इतनी महिमा है, तो फिर योगभ्रष्टकी कितनी महिमा होनी चाहिये! कारण कि उसके उद्देश्यमें योग (समता) आ गयी है, तभी तो वह योगभ्रष्ट हुआ है।

इस योगभ्रष्टमें महिमा योगकी है, न कि भ्रष्ट होनेकी। जैसे कोई 'आचार्य' की परीक्षामें फेल हो गया हो, वह क्या 'शास्त्री' और 'मध्यमा' की परीक्षामें पास होनेवालेसे नीचा होगा? नहीं होगा। ऐसे ही जो योगभ्रष्ट हो गया है, वह सकामभावसे बडे-बडे यज्ञ, दान, तप आदि करनेवालोंसे नीचा नहीं होगा, प्रत्युत बहुत श्रेष्ठ होता है। कारण कि उसका उद्देश्य समता हो गया है। बडे-बडे यज्ञ, दान, तपस्या आदि करनेवालोंको लोग बड़ा मानते हैं, पर वास्तवमें बड़ा वही है, जिसका उद्देश्य समता है। समताका उद्देश्यवाला शब्दब्रह्मको भी अतिक्रमण कर जाता है।

---

* मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(गीता ७।३)

इस योगभ्रष्टके प्रसङ्गसे साधकोंको उत्साह दिलानेवाली एक बड़ी विचित्र बात मिलती है कि अगर साधक 'हमें तो परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है'—ऐसा दृढ़तासे विचार कर ले, तो वे शब्द-ब्रह्मको अतिक्रमण कर जायँगे।

सम्बन्ध—

श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेके बाद अब वह योगभ्रष्ट परमात्माकी तरफ खिंचता है, तब उसकी क्या दशा होती है ? यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

अर्थ—

परन्तु जो योगी प्रयत्नपूर्वक यत्न करता है और जिसके पाप नष्ट हो गये हैं तथा जो अनेक जन्मोंसे सिद्ध हुआ है, वह योगी फिर परमगतिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—

[वैराग्यवान् योगभ्रष्ट तो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त 'योगियोंके कुलमें जन्म लेने और वहाँ विशेषतासे यत्न करनेके कारण सुगमतासे परमात्माको प्राप्त हो जाता है। परन्तु श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट परमात्माको कैसे प्राप्त होता है ? इसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं।]

'तु'—इस पदका तात्पर्य है कि योगका जिज्ञासु भी जब वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है, उनसे

ऊँचा उठ जाता है, तब जो योगमें लगा हुआ है और तत्परतासे यत्न करता है, वह वेदोंसे ऊँचा उठ जाय और परमगतिको प्राप्त हो जाय, इसमें तो सन्देह ही क्या है

'योगी'—जो परमात्मतत्त्वको, समताको चाहता है और राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंमें नहीं फँसता, वह योगी है।

'प्रयत्नाद्यतमानः'—प्रयत्नपूर्वक यत्न करनेका तात्पर्य है कि उसके भीतर परमात्माकी तरफ चलनेकी जो उत्कण्ठा है, लगन है, उत्साह है, तत्परता है, वह दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही रहती है। साधनमें उसकी निरन्तर सजगता रहती है।

श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पूर्वाभ्यासके कारण परमात्माकी तरफ खिंचता है और वर्तमानमें भोगोंके सङ्गसे संसारकी तरफ खिंचता है। अगर वह प्रयत्नपूर्वक शूरवीरतासे भोगोंका त्याग कर दे, तो फिर वह परमात्माको प्राप्त कर लेगा। कारण कि जब योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मको अतिक्रमण कर जाता है, तो फिर जो तत्परतासे साधनमें लग जाता है, उसका तो कहना ही क्या है! जैसे निषिद्ध आचरणमें लगा हुआ पुरुष एक बार चोट खानेपर विशेष जोरसे परमात्मामें लग जाता है, ऐसे ही योगभ्रष्ट भी श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेपर विशेष जोरसे परमात्मामें लग जाता है।

'संशुद्धकिल्बिषः'—उसके अन्तःकरणके सब दोष नष्ट हो गये हैं, सब पाप नष्ट हो गये हैं अर्थात् परमात्माकी तरफ लगन होनेसे उसके भीतर भोग, संग्रह, मान, बड़ाई आदिकी इच्छा सर्वथा मिट गयी है। इन भोग, संग्रह आदिकी इच्छा मिटना ही पापोंका, मलिनताओंका, दोषोंका संशुद्ध होना है।

जो प्रयत्नपूर्वक यत्न करता है, उसके प्रयत्नसे ही यह मालूम होता है कि उसके सब पाप नष्ट हो चुके हैं।

'अनेकजन्मसंसिद्धः'*—पहले मनुष्यजन्ममें योगके लिये यत्न करनेसे शुद्धि हुई, फिर अन्तसमयमें योगसे विचलित होकर स्वर्गादि लोकोंमें गया तथा वहाँ भोगोंसे अरुचि होनेसे शुद्धि हुई, और फिर यहाँ शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेकर परमात्मप्राप्तिके लिये तत्परतापूर्वक यत्न करनेसे शुद्धि हुई। इस प्रकार तीन जन्मोंमें शुद्ध होना ही अनेकजन्मसंसिद्ध होना है† ।

'ततो याति परां गतिम्'—इस वास्ते वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है कि जिसको प्राप्त होनेपर उससे बढ़कर कोई भी लाभ माननेमें नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर भयंकर-से-भयंकर दुःख भी विचलित नहीं कर सकता (गीता ६ । २२)—ऐसे आत्यन्तिक सुखको वह प्राप्त हो जाता है।

---

* 'अनेकजन्म' का अर्थ है—'न एक जन्म इति अनेकजन्म', अर्थात् एकसे अधिक जन्म। उपर्युक्त योगीके अनेक जन्म हो ही गये हैं। 'संसिद्धः' पदमें भूतकालका 'क्त' प्रत्यय होनेसे इसका अर्थ है—वह योगी अनेक जन्मोंमें संसिद्ध (शुद्ध) हो चुका है।

† ऐसे ही वैराग्यवान् योगभ्रष्टके पहले मनुष्यजन्ममें संसारसे विरक्त होनेसे शुद्धि हुई और फिर यहाँ योगियोंके कुलमें जन्म लेकर परमात्म-प्राप्तिके लिये तत्परतापूर्वक यत्न करनेसे शुद्धि हुई। इस प्रकार दो जन्मोंमें शुद्ध होना ही उसका अनेकजन्मसंसिद्ध होना है।

मार्मिक बात

वास्तवमें देखा जाय तो मनुष्यमात्र अनेकजन्मसंसिद्ध है। कारण कि इस मनुष्यशरीरके पहले अगर वह स्वर्गादि लोकोंमें गया है, तो वहाँ शुभ कर्मोंका फल भोगनेसे उसके पुण्य समाप्त हो गये और वह पुण्योंसे शुद्ध हो गया। अगर वह नरकोंमें गया है, तो वहाँ नारकीय यातना भोगनेसे उसके पाप समाप्त हो गये और वह पापोंसे शुद्ध हो गया। अगर वह चौरासी लाख योनियोंमें गया है, तो वहाँ उस-उस योनिके रूपमें अशुभ कर्मोंका, पापोंका फल भोगनेसे उसके पाप कट गये और वह शुद्ध हो गया*। इस प्रकार यह जीव अनेक जन्मोंमें पुण्यों और पापोंसे शुद्ध हुआ है। यह शुद्ध होना ही इसका 'संसिद्ध' होना है।

दूसरी बात, मनुष्यमात्र प्रयत्नपूर्वक यत्न करके परमगतिको प्राप्त कर सकता है, अपना कल्याण कर सकता है। कारण कि भगवान्‌ने यह अन्तिम जन्म इस प्राणीको केवल अपना कल्याण करनेके लिये ही दिया है। अगर यह मनुष्य अपना कल्याण करनेका अधिकारी नहीं होता, तो भगवान् इसको मनुष्यजन्म ही क्यों देते? अब जब मनुष्यशरीर दिया है, तो यह मुक्तिका पात्र है ही। इस वास्ते मनुष्यमात्रको अपने उद्धारके लिये तत्परतापूर्वक यत्न करना चाहिये।

---

* जीव इस मनुष्यजन्ममें ही अपने उद्धारके लिये मिले हुए अवसरका दुरुपयोग करके अर्थात् पाप, अन्याय करके अशुद्ध होता है। स्वर्ग, नरक तथा अन्य योनियोंमें इस प्राणीकी शुद्धि ही शुद्धि होती है, अशुद्धि होती ही नहीं।

सम्बन्ध—

योगभ्रष्टका इस लोक और परलोकमें पतन नहीं होता; योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मको अतिक्रमण कर जाता है—यह जो भगवान्‌ने महिमा कही है, यह महिमा भ्रष्ट होनेकी नहीं है, प्रत्युत योगकी है। अब आगेके श्लोकमें उसी योगकी महिमा कहते हैं।

श्लोक—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

अर्थ—

(सकामभाववाले) तपस्वियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है—ऐसा मेरा मत है। इस वास्ते हे अर्जुन ! तू योगी हो जा।

व्याख्या—

'तपस्विभ्योऽधिको योगी'—ऋद्धि-सिद्धि आदिको पानेके लिये जो भूख-प्यास, सरदी-गरमी आदिका कष्ट सहते हैं, वे तपस्वी हैं। इन सकाम तपस्वियोंसे पारमार्थिक रुचिवाला, ध्येयवाला योगी श्रेष्ठ है।

'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः'—शास्त्रोंको जाननेवाले पढ़े-लिखे पण्डितोंको यहाँ 'ज्ञानी' समझना चाहिये। जो शास्त्रोंका विवेचन करते हैं, ज्ञानयोग क्या है ? कर्मयोग क्या है ? भक्तियोग क्या है ? लययोग क्या है ? आदि-आदि बहुत-सी बातें जानते हैं और कहते भी हैं; परन्तु जिनका उद्देश्य सांसारिक भोग और ऐश्वर्य है, ऐसे सकाम शब्दज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ माना गया है।

'कर्मिभ्यश्चाधिको योगी'—इस लोकमें राज्य मिल जाय, धन-सम्पत्ति, सुख-आराम, भोग आदि मिल जाय और मरनेके बाद परलोकमें ऊँचे-ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति हो जाय और उन लोकोंका सुख मिल जाय—ऐसा उद्देश्य रखकर जो कर्म करते हैं अर्थात् सकामभावसे यज्ञ, दान, तीर्थ आदि शास्त्रीय कर्मोंको करते हैं, उन कर्मियोंसे योगी श्रेष्ठ है।

जो संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो गया है; वही वास्तवमें योगी है। ऐसा योगी बड़े-बडे तपस्वियों, शास्त्रज्ञ पण्डितों और कर्मकाण्डियोंसे भी ऊँचा है, श्रेष्ठ है। कारण कि तपस्वियों आदिका उद्देश्य संसार है तथा सकामभाव है और योगीका उद्देश्य परमात्मा है तथा निष्कामभाव है।

तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—इन तीनोंकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं अर्थात् तपस्वियोंमें सहिष्णुताकी, ज्ञानियोंमें शास्त्रीय ज्ञानकी अर्थात् बुद्धिके ज्ञानकी और कर्मियोंमें शास्त्रीय क्रियाकी प्रधानता है। इन तीनोंमें सकामभाव होनेसे ये तीनों योगी नहीं हैं, प्रत्युत भोगी हैं। अगर ये तीनों निष्कामभाववाले योगी होते, तो भगवान् इनके साथ योगीकी तुलना नहीं करते; इन तीनोंसे योगीको श्रेष्ठ नहीं बताते।

'तस्माद्योगी भवार्जुन'—अभीतक भगवान्‌ने जिसकी महिमा गायी है; उसके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं कि 'हे अर्जुन! तू योगी हो जा, राग-द्वेषसे रहित हो जा अर्थात् सब काम करते हुए भी जलमें कमलके पत्तेकी तरह निर्लिप्त रह।' यही बात भगवान्‌ने आगे आठवें अध्यायमें भी कही है—'योगयुक्तो भवार्जुन' (८।२७)।

पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रार्थना की थी कि आप मेरे लिये एक निश्चित श्रेयकी बात कहिये। इसपर भगवान्‌ने सांख्ययोग, कर्मयोग, ध्यानयोगकी बातें बतायीं, पर इस श्लोकसे पहले कहीं भी अर्जुनको यह आज्ञा नहीं दी कि तुम ऐसे बन जाओ, इस मार्गमें लग जाओ। अब भगवान् यहाँ अर्जुनकी प्रार्थनाके उत्तरमें आज्ञा देते हैं कि 'तुम योगी हो जाओ', क्योंकि यही तुम्हारे लिये एक निश्चित श्रेय है।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने योगीकी प्रशंसा करके अर्जुनको योगी होनेकी आज्ञा दे दी। परन्तु कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यान-योगी, भक्तियोगी आदिमेंसे कौन-सा योगी होना चाहिये—इसके लिये अर्जुनको स्पष्टरूपसे आज्ञा नहीं दी। इस वास्ते अब भगवान् आगेके श्लोकमें 'अर्जुन भक्तियोगी बने'—इस उद्‌देश्यसे भक्ति-योगीकी विशेष महिमा कहते हैं।

श्लोक—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

अर्थ—

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मेरेमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ है।

व्याख्या—

'योगिनामपि सर्वेषाम्'— जिनमें जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी मुख्यता है, जो कर्मयोग, सांख्ययोग, हठयोग, मन्त्रयोग,

लययोग आदि साधनोंके द्वारा अपने स्वरूपकी प्राप्ति-(अनुभव-) में ही लगे हुए हैं, वे योगी सकाम तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे श्रेष्ठ हैं। परन्तु उन सम्पूर्ण योगियोंमें भी केवल मेरे साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ है।

'यः श्रद्धावान्'—जो मेरेपर श्रद्धा और विश्वास करता है अर्थात् जिसके भीतर मेरी ही सत्ता और महत्ता है, ऐसा वह श्रद्धावान् भक्त मेरेमें लगे हुए मनसे मेरा भजन करता है।

'मद्गतेनान्तरात्मना मां भजते'—मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इस प्रकार जब स्वयंका भगवान्में अपनापन हो जाता है, तो मन स्वतः ही भगवान्में लग जाता है, तल्लीन हो जाता है। जैसे ब्याह होनेपर लड़कीका मन स्वाभाविक ही ससुराल-में लग जाता है, ऐसे ही भगवान्में अपनापन होनेपर भक्तका मन स्वाभाविक ही भगवान्में लग जाता है, मनको लगाना नहीं पड़ता। फिर खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते आदि सभी क्रियाओंमें मन भगवान्का ही चिन्तन करता है, भगवान्में ही लगा रहता है।

जो केवल भगवान्का ही हो जाता है, जिसका अपना व्यक्ति-गत कुछ नहीं रहता, उसका साधन-भजन, जप-कीर्तन, श्रवण-मनन आदि सभी पारमार्थिक क्रियाएँ; खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि सभी शारीरिक क्रियाएँ और खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका-सम्बन्धी क्रियाएँ भजन हो जाती हैं।

अनन्यभक्तके भजनका स्वरूप भगवान्ने ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें बताया है कि वह भक्त मेरी प्रसन्नताके लिये

ही सभी कर्म करता है, सदा मेरे ही परायण रहता है, केवल मेरा ही भक्त है, संसारका भक्त नहीं है, संसारकी आसक्तिको सर्वथा छोड़ देता है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे रहित हो जाता है*।

'स मे युक्ततमो मतः'—संसारसे विमुख होकर अपना उद्धार करनेमें लगनेवाले जितने योगी (साधक) हो सकते हैं, वे सभी 'युक्त' हैं। जो सगुण-निराकारकी अर्थात् व्यापकरूपसे सबमें परिपूर्ण परमात्माकी शरण लेते हैं, वे सभी 'युक्ततर' हैं। परन्तु जो केवल मुझ सगुण भगवान्‌के ही शरण होते हैं, वे मेरी मान्यतामें 'युक्ततम' हैं।

वह भक्त युक्ततम तभी होगा, जब कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्ति-योग आदि सभी योग उसमें आ जायँगे। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌में तल्लीन हुए मनसे भजन करनेपर उसमें सभी योग आ जाते हैं। कारण कि भगवान् महायोगेश्वर हैं, सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर हैं, तो महायोगेश्वरके शरण होनेपर शरणागतका कौन-सा योग बाकी रहेगा? वह तो सम्पूर्ण योगोंसे युक्त हो जाता है। इस वास्ते भगवान् उसको युक्ततम कहते हैं।

युक्ततम भक्त कभी योगभ्रष्ट हो ही नहीं सकता। कारण कि उसका मन भगवान्‌को नहीं छोड़ता, तो भगवान् भी उसको नहीं छोड़ सकते। अन्तसमयमें वह बेहोशी आदिके कारण भगवान्-

---

* मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११। ५५)

को याद न कर सके, तो भगवान् उसको याद करते हैं*; अतः वह योगभ्रष्ट हो ही कैसे सकता है ?

यहाँ भगवान्‌का भक्तियोगीको सर्वश्रेष्ठ बतानेसे यह सिद्ध हो जाता है कि दूसरे जितने योगी हैं, उनकी पूर्णतामें कुछ-न-कुछ कमी रहती होगी। संसारका सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे तो सभी योगी बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, निर्विकार हो जाते हैं और परम सुख, परम शान्ति, परम आनन्दका अनुभव करते हैं—इस दृष्टिसे तो किसीकी भी पूर्णतामें कोई कमी नहीं रहती। परन्तु जो अन्तरात्मासे भगवान्‌में लग जाता है, भगवान्‌के साथ ही अपनापन कर लेता है, उसमें भगवत्प्रेम प्रकट हो जाता है। वह प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है तथा वृद्धि, क्षति और पूर्तिसे रहित है। ऐसा प्रेम प्रकट होनेसे ही भगवान्‌ने उसको सर्वश्रेष्ठ माना है।

---

* भगवान् कहते हैं—

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

'काष्ठ और पाषाणके सदृश म्रियमाण उस भक्तका मैं स्वयं स्मरण करता हूँ और उसको परमगति प्रदान करता हूँ।'

कफवातादिदोषेण मद्भक्तो न च मां स्मरेत्।
तस्य स्मराम्यहं नो चेत् कृतघ्नो नास्ति मत्परः॥

'कफवातादि दोषोंके कारण मेरा भक्त यदि मृत्युके समय मेरा स्मरण नहीं कर पाता, तो मैं स्वयं उसका स्मरण करता हूँ। यदि मैं ऐसा न करूँ, तो मेरेसे बढ़कर कृतघ्न कोई नहीं हो सकता।'

पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा कि सांख्ययोग और योग—इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन-सा है ? तो भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्नके अनुसार वहाँपर कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया। परन्तु अर्जुनके लिये कौन-सा योग श्रेष्ठ है यह बात नहीं बतायी। उसके बाद सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधना कैसे चलती है ?—इसका विवेचन करके छठे अध्यायके आरम्भमें कर्मयोगकी विशेष महिमा कही। जो तत्त्व (समता) कर्मयोगसे प्राप्त होता है, वही तत्त्व ध्यानयोगसे भी प्राप्त होता है—इस बातको लेकर ध्यानयोगका वर्णन किया। ध्यानयोगमें मनकी चञ्चलता बाधक होती है—इस बातको लेकर अर्जुनने मनके विषयमें प्रश्न किया। इसका उत्तर भगवान्‌ने संक्षेपसे दे दिया। फिर अर्जुनने पूछा कि योगका साधन करनेवाला अगर अन्तसमयमें योगसे विचलितमना हो जाय, तो उसकी क्या दशा होती है ? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन किया और छियालीसवें श्लोकमें योगीकी विशेष महिमा कहकर अर्जुनको योगी बननेके लिये स्पष्टरूपसे आज्ञा दी। परन्तु मेरी मान्यतामें कौन-सा योग श्रेष्ठ है—यह बात भगवान्‌ने यहाँतक स्पष्टरूपसे नहीं कही। अब यहाँ अन्तिम श्लोकमें भगवान् अपनी मान्यताकी बात अपनी ही तरफसे (अर्जुनके पूछे बिना ही, कहते हैं कि मैं तो भक्तियोगीको श्रेष्ठ मानता हूँ —'स मे युक्ततमो मतः'। परन्तु ऐसा स्पष्टरूपसे कहनेपर भी अर्जुन भगवान्‌की बातको पकड़ नहीं पाये। इस वास्ते अर्जुन आगे बारहवें अध्यायके आरम्भमें पुनः प्रश्न करेंगे कि आपकी भक्ति

करनेवाले और अविनाशी निराकारकी उपासना करनेवालोंमें श्रेष्ठ कौन-सा है ? तो उत्तरमें भगवान् अपने भक्तको ही श्रेष्ठ बतायेंगे, जैसा कि यहाँ बताया है* ।

विशेष बात

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी आदि सभी युक्त हैं अर्थात् सभी संसारसे विमुख हैं और समता (चेतन-तत्त्व) के सम्मुख हैं । उनमें भी भक्तियोगी (भक्त) को सर्वश्रेष्ठ बतानेका तात्पर्य है कि यह जीव परमात्माका अंश है, पर संसारके साथ अपना सम्बन्ध मानकर यह बँध गया है । जब यह संसार-शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धको छोड़ देता है, तो यह स्वाधीन और सुखी हो जाता है । इस स्वाधीनताका भी एक भोग होता है । यद्यपि इस स्वाधीनतामें पदार्थों, व्यक्तियों, क्रियाओं, परिस्थितियों आदिकी कोई पराधीनता नहीं रहती, तथापि इस स्वाधीनताको लेकर जो सुख होता है अर्थात् मेरेमें दुःख नहीं है, सन्ताप नहीं है, लेशमात्र भी कोई इच्छा नहीं है—यह जो सुखका भोग होता है, यह स्वाधीनतामें भी परिच्छिन्नता (पराधीनता) है । इसमें संसारके साथ सूक्ष्म सम्बन्ध बना हुआ है । इस वास्ते इसको 'ब्रह्मभूत अवस्था' कहा गया है (गीता १८ । ५४) ।

---

* यहाँ भगवान्ने 'स मे युक्ततमो मतः' कहा है और बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'ते मे युक्ततमा मताः' कहा है । दोनों जगह भगवान् एक ही शब्द कहते हैं, केवल वचनोंमें अन्तर है अर्थात् यहाँ एकवचनसे कहा है और वहाँ बहुवचनसे ।

जबतक सुखके अनुभवमें स्वतन्त्रता मालूम देती है, तबतक सूक्ष्म अहंकार रहता है। परन्तु इसी स्थितिमें (ब्रह्मभूत अवस्थामें) स्थित रहनेसे वह अहंकार भी मिट जाता है। कारण कि प्रकृति और उसके कार्यके साथ सम्बन्ध न रखनेसे प्रकृतिका अंश 'अहम्' आपसे-आप शान्त हो जाता है। तात्पर्य है कि कर्मयोगी, ज्ञानयोगी भी अन्तमें समय पाकर अहंकारसे रहित हो जाते हैं। परन्तु भक्तियोगी तो आरम्भसे ही भगवान्‌का हो जाता है। इस वास्ते उसका अहंकार आरम्भमें ही समाप्त हो जाता है। ऐसी बात गीतामें भी देखनेमें आती है कि जहाँ सिद्ध कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगीके लक्षणोंका वर्णन हुआ है, वहाँ कर्मयोगी और ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें तो करुणा और कोमलता देखनेमें नहीं आती, पर भक्तोंके लक्षणोंमें देखनेमें आती है। इस वास्ते सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें तो 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' (१२। १३)— ये पद आये हैं, पर सिद्ध कर्मयोगी और ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें ऐसे पद नहीं आये हैं। तात्पर्य है कि भक्त पहलेसे ही छोटा होकर चलता है*, इस वास्ते उसमें नम्रता, कोमलता, भगवान्‌के विधानमें प्रसन्नता आदि विलक्षण बातें साधनावस्थामें ही आ जाती हैं और

---

* तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

(शिक्षाष्टक)

'अपनेको तृणसे भी नीचा समझकर, वृक्षसे भी सहनशील बनकर दूसरोंका मान करते हुए और स्वयं मानरहित होकर सदा हरिका नाम-संकीर्तन करे।'

सिद्धावस्थामें वे बातें विशेषतासे आ जाती हैं। अतः भक्तमें सूक्ष्म अहंकार भी नहीं रहता। इन्हीं कारणोंसे भगवान्‌ने भक्तको सर्वश्रेष्ठ कहा है।

शान्ति, स्वाधीनता आदिका रस चिन्मय होते हुए भी 'अखण्ड' है। परन्तु भक्तिका रस चिन्मय होते हुए भी 'प्रतिक्षण वर्धमान' है अर्थात् वह नित्य नवीनरूपसे बढ़ता ही रहता है, कभी घटता नहीं, मिटता नहीं और पूरा होता नहीं। ऐसे रसकी, प्रेमानन्दकी भूख भगवान्‌को भी है। भगवान्‌की इस भूखकी पूर्ति भक्त ही करता है। इसलिये भगवान् भक्तको सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

इसमें एक बात और समझनेकी है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग—इन दोनोंमें तो साधककी अपनी निष्ठा (स्थिति) होती है, पर भक्तकी अपनी कोई स्वतन्त्र निष्ठा नहीं होती। भक्त तो सर्वथा भगवान्‌के ही आश्रित रहता है, भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है, भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहता है—'त्व सुखे सुखित्वम्'। उसको अपने उद्धारकी भी चिन्ता नहीं होती। हमारा क्या होगा? इधर उसका ध्यान ही नहीं जाता। ऐसे भगवन्निष्ठ भक्तका सारा भार, सारी देखभाल भगवान्‌पर ही आती है—'योगक्षेमं वहाम्यहम्'।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो
नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्,—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌रूप श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें 'आत्मसंयमयोग' नामक छठा अध्याय पूर्ण हुआ॥ ६ ॥

आत्मसंयम अर्थात् मनका संयमन करनेसे ध्यानयोगीको योग-(समता-) का अनुभव हो जाता है, इस वास्ते इस अध्यायका नाम 'आत्मसंयमयोग' रखा गया है।

छठे अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

(१) इस अध्यायमें 'अथ षष्ठोऽध्यायः' के तीन, 'उवाच'के दस, श्लोकोंके पाँच सौ तिहत्तर और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस तरह सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ निन्यानवे है।

(२) 'अथ षष्ठोऽध्यायः' में छः, 'उवाच' में तैंतीस, श्लोकोंमें एक हजार पाँच सौ चार और पुष्पिकामें सैंतालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार पाँच सौ नब्बे है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें पाँच उवाच हैं—तीन 'श्रीभगवानुवाच' और दो 'अर्जुन उवाच'।

छठे अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके सैंतालीस श्लोकोंमेंसे पहले और छत्तीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला'; दसवें, चौदहवें और पचीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा पन्द्रहवें, सत्ताईसवें, छत्तीसवें और बयालीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला'; और ग्यारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष सैंतीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।